श्री भागवत-दर्शन
भागवती कथा
१८वाँ
खण्ड
लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

To. Bishnu Das Malu.
Pin - 742133.
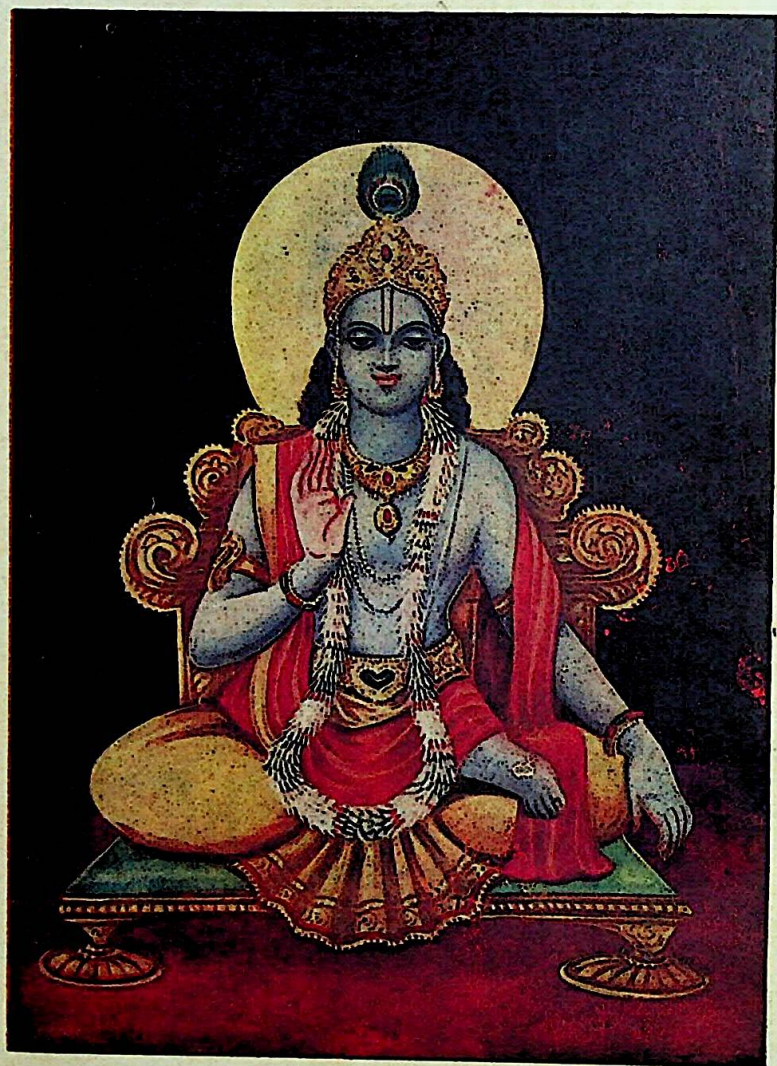
अभयदाता भगवान्

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(खण्ड १८)

★

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

चतुर्थ संस्करण
१००० प्रति] ज्येष्ठ कृ० २०३१ [मूल्य २.००

मुद्रक–बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

हमारी ३ नयी पुस्तकें—

१—सटीक भागवत चरित (प्रथम खण्ड)—

बड़े आकार में, मोटे टाइप में—सुन्दर २८ पौंड के कागज पर सजिल्द-सचित्र (दुरंगा चित्र १, बहुरंगे ४—सादे लगभग १०० चित्र) छप्पय और उनका सरल भाषा में अर्थ, लगभग ८५० पृष्ठ—मूल्य केवल २१) रुपया अन्तर्कथाओं सहित।

२—सटीक भागवत चरित (द्वितीय खण्ड)—

सब विशेषतायें वही। सटीक सजिल्द, अन्तर्कथायें बहुरंगा चित्र--१ तिरंगे चार, सादे लगभग २५० चित्र—मूल्य वही २१) रुपया।

३—सटीक राघवेन्दु चरित—

सब विशेषतायें वही। पृष्ठ संख्या १०८ मूल्य १ रु० ५० पैसे।

विषय-सूची

चित्र-सूची

———

To. Bishnu Das Malu.
Pin-742133.

दधीचि-मुनि की अस्थि के वज्र से वृत्रासुर का वध

[४१४]

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः-
कृन्तन्समन्तात् परिवर्तमानः ।
न्यपातयत्तावदहर्गणेन-
यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १२ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

आके बाहिर इन्द्र असुर के सिर कूँ काटैं ।
वज्र, वेग तैं घुसैं असुर की अस्थि न फाटैं ॥
सबरी-शक्ति लगाय करयो धड़ सिर ते न्यारो ।
एक वर्ष यों लग्यो मरयो पुनि वृत्र विचारो ॥
मुनि दधीचि की अस्थि तैं, वज्र बन्यो सुर-रिपु मरयो ।
अब चरित्र अगिलो सुनो, जो दधीचि पत्नी करयो ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब वृत्रासुर के वध का योग उपस्थित हुआ तब इन्द्र ने अपने वेगशाली तीव्र-वज्र को सब ओर घुमाते हुए उसके मस्तक को भूमि पर गिरा दिया। उसका सिर काटने में इन्द्र को उतना ही समय लगा जितना सूर्यादि-ग्रहों को उत्तरायण और दक्षिणायण- रूप गति में लगता है अर्थात् हम लोगों का पूरा एक वर्ष ।"

महत्-पुरुषों के चरित्र महान ही होते हैं। वे जिस कार्य को भी करते हैं उसे सुचारु रूप से करते हैं। उनका हर्ष और कोप दोनों ही व्यर्थ नहीं होते। वे निग्रह-अनुग्रह दोनों में ही समर्थ होते हैं। परोपकार के लिये सब कुछ कर डालना यह साधुओं का स्वभाव होता है। हर्ष-शोक में सर्वत्र समभाव से अवस्थित रहना यही ज्ञानियों का चिन्ह होता है। पति के पीछे, पुत्र प्राण सभी का मोह त्यागकर उन्हीं के पथ का अनुसरण करना, उन्हीं के शरीर के साथ भस्म हो जाना, यह पतिप्राणा-पतिव्रताओं का स्वभाव होता है। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके जैसे हो वैसे अपना कार्य-सिद्ध कर लेना यह स्वार्थ परायण पुरुषों का ध्येय होता है। यथार्थ में धन्य तो वही है जिसके हृदय में भगवत्-भक्ति है। वह चाहे फिर जिस योनि में हो—जिस अवस्था में हो, पूजनीय है—वन्दनीय है—स्मरणीय और अभिनन्दनीय है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर का पेट फाड़ कर इन्द्र बाहर निकल आए, इतने पर भी वृत्रासुर मरा नहीं। उसके दोनों हाथ कट गए, पेट फट गया, फिर भी वह विन्ध्याचल पर्वत के समान पड़ा था। कंदरा के समान उसका मुख फटा हुआ था और इन्द्रधनुष के समान उसकी जिह्वा निकली हुई थी। देवेन्द्र ने अपना अमोघ वज्र लेकर उसके सिर को काटना आरम्भ किया, किन्तु वह क्यों कटने लगा। उसकी अस्थियाँ तो वज्र के समान दृढ़ और अभेद्य थीं। इन्द्र ने भगवान् का नाम लेकर चारों ओर घूम-घूमकर बड़े कष्ट से सम्पूर्ण बल लगाकर उसे काटना आरम्भ किया। उस असुर के सिर के काटने में उन्हें अपने दिनमान से एक दिन और एक रात्रि का समय लग गया, अर्थात् हम मनुष्यों के दिनों से पूरे वर्ष में उस असुर का सिर कट पाया। जब वृत्रासुर का सिर धड़ से अलग हो गया

तो देवताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बहुत से देवता दुन्दुभी लेकर अपने-अपने विमानों पर चढ़कर आकाश से दुन्दुभी बजाने लगे। ऋषि-महर्षि, वेद के मन्त्रों से वृत्र-हन्ता सुरेन्द्र की स्तुति करने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, गन्धर्व गाने लगे। दसों दिशाओं में आनन्द छा गया।

जहाँ पर वृत्र का सिर, इन्द्र अपने वज्र से काट रहे थे, वहीं सम्मुख शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी-वनमाली खड़े हँस रहे थे। महाभाग वृत्रासुर, मरण के समय एकटक भाव से अपने इष्टदेव श्यामसुन्दर को स्नेहपूर्वक निहार रहे थे। उन्हें न हर्ष था और न विषाद। अपने स्वामी के दर्शनों से, उनके मङ्गलमय नाम के स्मरण से उन्हें तनिक भी कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आकाश में सिद्ध, चारण, गन्धर्व इस विचित्र दृश्य को देख रहे थे। सभी ने प्रत्यक्ष देखा कि वृत्रासुर के शरीर से एक परम प्रकाशमयी-ज्योति निकलकर सर्वलोकातीत भगवान् वासुदेव के शरीर में उसी प्रकार विलीन हो गई—जैसे वर्षाकाल में विद्युत चमककर आकाश में विलीन हो जाती है। इस प्रकार वृत्रासुर ने भगवान् की शक्ति से शरीर त्याग करके सद्गति पाई। वे कर्म-बन्धनों से छूटकर विमुक्त हो गये। उन्होंने अपनी भगवद्भक्ति और प्रभु-निष्ठा के कारण वह पद प्राप्त किया जहाँ जाकर फिर कोई संसार में लौटकर नहीं आता।

वृत्रासुर के वध की कथा सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह वृत्रासुर के वध का अद्भुत आख्यान तो हमने सुना। महर्षि दधीचि के तप, तेज, परोपकार और अद्भुत शक्ति की कथा सुनकर तो हमारे रोंगटे खड़े हो गये। यदि वे महर्षि अपने शरीर को न देते तो निश्चय ही किसी प्रकार वृत्रासुर न मारा जाता। किन्तु एक बात तो आपने अधूरी ही छोड़ दी। आपने कहा था देवता जब दधीचि मुनि से उनकी अस्थि माँगने गये, तब उनकी

पतिव्रता-पत्नी पानी भरने सरिता के किनारे गईं थीं। देवता डर रहे थे, कि कहीं मुनि-पत्नी आ जायँगी तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। वह कभी मुनि को शरीर त्याग न करने देंगी। देवताओं के आग्रह पर मुनि ने पत्नी के आने से पूर्व ही शरीर त्याग कर दिया और विश्वकर्मा ने क्षणभर में ही उनकी अस्थियों से वज्र तथा अन्य अस्त्रों को बना लिया और शीघ्र ही वहाँ से सब देवता चलते बने।" देवताओं के चले जाने पर मुनि-पत्नी लौटी तो उन्होंने क्या किया? इस बात को सुनने के लिये हमें कुतूहल हो रहा है।

इतना सुनकर ही सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और अत्यन्त ही आनन्द प्रदर्शित करते हुए वे कहने लगे—"मुनियो! आप जैसे श्रोताओं को पाकर मैं धन्य हुआ—कृतार्थ हुआ। मेरा कथा कहने का कार्य सफल हुआ। इतने कथा प्रसङ्गमें तो मैं उस प्रसंग को सर्वथा भूल ही गया था। आपकी स्मरण शक्ति की बलिहारी है, जो आप उसे नहीं भूले। अच्छी बात है, मैं उस प्रसङ्ग को ही आपको सुनाता हूँ आप सावधानी के साथ श्रवण करें।

हाँ, तो देवता अपना स्वार्थ सिद्ध करके—मुनि की अस्थियों से अस्त्र-शस्त्र बनाकर दधीचि मुनि के आश्रम से चले आये। पीछे दधीचि मुनि की पत्नी अपने वस्त्रों को धोकर, बछड़ों को न्हिला कर, पानी भरकर और भगवती गौरी का पूजन करके आश्रम पर लौटीं। आज उन्हें आश्रम सूना-सूना-सा श्रीहीन दिखाई दिया। वहाँ के पशु-पक्षी उदास थे, हरिण आदि रो रहे थे, वृक्षों के पल्लव मुरझाये हुए थे। अग्निहोत्र के अग्निदेव तेजहीन से प्रतीत होते थे। प्रहर भर में ही आश्रम का इतना परिवर्तन देखकर पतिप्राणा गर्भस्तिनी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने पति को नहीं देखा तब तो उसने अग्निहोत्र की अग्नि से ही पूछा—"हे अग्निदेव! तुम सबके शुभाशुभ के साक्षी हो, सब बातें

जानते हो, मेरे पति कहाँ चले गये ? तुम मुझे सत्य-सत्य सब समाचार सुना दो।" पतिव्रता के प्रभाव से अग्निदेव चुप न रह सके, वे मूर्तिमान होकर बोले—"देवि ! तुम्हारे पति ने अक्षयलोक को प्राप्त किया है, उन्होंने परोपकार के लिये—देवताओं के हितार्थ हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग किया है। संसार में उनका यह परोपकारमय त्याग सर्वश्रेष्ठ समझा जायगा। तुम्हारे पति शरीर विहीन होने पर भी अमर हो गये हैं।"

अग्नि के मुख से सभी समाचार सुनकर सती का हृदय भर आया। जिसके पति ही देवता हैं, पति के पादपद्मों में ही जिनकी सदा-सर्वदा रति है, पति ही जिनकी गति हैं ऐसी पतिव्रताओं के लिये पति वियोग से बढ़कर दूसरा कोई दुःख नहीं। रोते-रोते उस गर्भस्तिनी ने कहा—"देवताओं को शाप देने की मेरी सामर्थ्य नहीं। सामर्थ्य होती तो भी मैं उन्हें शाप न देती। मेरे पति ने इस क्षणभंगुर-नाशवान्-शरीर का मोह नहीं किया। उन्होंने अपनी कीर्ति को अजर-अमर बना लिया, उन्होंने उस दिव्य-अक्षयलोक को प्राप्त कर लिया जिन्हें बड़े-बड़े राजसूय अश्वमेधयाज्ञी भी प्राप्त नहीं कर सकते। यह पाँचभौतिक क्षण-भंगुर शरीर तो एक दिन नाश होने ही वाला है, इसका विनाश तो अवश्यम्भावी है। मेरे पति ने इसका उपयोग महान कार्य में किया। संसार में वे लोग धन्य-धन्य हैं जो गो, ब्राह्मण तथा देवताओं के लिये अपने प्राणों तक को उत्सर्ग कर देते हैं। मैं भी अपने पति के पथ का अनुसरण करूँगी। परलोक में पहुँच कर उनके पादपद्मों को प्रसन्नतापूर्वक पकड़ूँगी। मैं भी अब सती हूँगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ऐसा निश्चय करके दधीचि पत्नी ने अग्निहोत्र की अग्नि को प्रणाम किया, गौओं के बछड़ों को हरिन तथा पशु-पक्षियों को प्यार किया ! वृक्षों को आलिङ्गन

किया और वे अपने पति के रोम, चर्म, अग्निहोत्र के पात्र और वल्कल-वस्त्रों को लेकर सती होने के लिये उद्यत हुईं। स्वयं ही वन से वह काष्ठ चुन लाईं, बड़ी सी चिता बनाई।

अब उसके सम्मुख एक धर्म-सङ्कट उपस्थित हुआ। उसके पेट में मुनि के वीर्य से स्थापित अमोघ गर्भ था। वह तो पति का न्यासभूत था। गर्भिणी नारी को सती होने का विधान नहीं है, किन्तु गर्भास्तिनी अपने पति के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकती है। यद्यपि गर्भ के दिवस प्रायः पूरे हो चुके हैं, किन्तु प्रसव में अभी विलम्ब है। अतः उसने स्वयं ही अपने उदर को विदीर्ण किया, उसमें से दधीचि-मुनि के सदृश रूप रङ्ग और तेज वाला एक पुत्र निकला। उसे माता ने गोदी में लेकर प्यार किया। बार-बार उस अबोध शिशु का मुख चूमा और वन के देवी-देवताओं तथा दसों दिशाओं को सुनाती हुई वह गद्‌गद वाणी में बोली—"जो यहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे, बन के देवी-देवता, मृग, पशु-पक्षी, वृक्षों के अधिष्ठातृ देवता हों वे सब ही मेरी बात सुनें। मैं अपने पति से विहीन होकर इस अवनि पर एक क्षण भी रहना नहीं चाहती। मैं अपने पति के पीछे-पीछे परलोक प्रस्थान कर रही हूँ। यह बालक अनाथ है, मातृहीन है, इसके कोई कुटुम्बी—सगे सम्बन्धी भी नहीं हैं। अतः इस अनाथ बालक की हे वृक्षों के अधिष्ठातृ देवताओ! तुम्हीं रक्षा करना। अनाथ बालकों की रक्षा करना परम धर्म है। मैं अबोध बालक को इसके भाग्य पर ही छोड़कर पति के पीछे-पीछे जा रही हूँ।

गर्भास्तिनी की ऐसी करुणा भरी वाणी सुनकर आश्रम के सभी प्राणधारी जीव-जंतु रोने लगे। जिन पक्षियों को मुनि और मुनि-पत्नी ने पुत्र को भाँति पाला था, जिन्हें नीवार खिला-खिला कर जिलाया था, जिन हरिजनों को थपकियाँ दे-देकर खिलाया

था, जिन पौधों को बड़ी सावधानी से पंक्तिबद्ध लगाया था, आज वे अपने माता-पिता के सदृश दधीचि और गर्भास्तिनी से रहित होकर रोने लगे। सभी माता के वियोग में विकल होकर सिसकियाँ भरने लगे।

गर्भास्तिनी ने उस सद्यःप्रसूत-शिशु को एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के कोटर में रख दिया और वह अपने पति की अवशिष्ट वस्तुओं को साथ लेकर अग्नि में प्रवेश कर गई—सती हो गई। इधर आश्रम के वृक्षों के अधिष्ठातृ देवों ने अपने राजा—चन्द्रमा से कहा, चन्द्रमा ने अपनी अमृतमयी-किरणों से उस शिशु को जिलाया। कुछ दिनों में बालक बड़ा हो गया, वह पीपल के ही नीचे रहता—पीपल के ही फलों को खाकर निर्वाह करता। अतः संसार में वह तेजस्वी पिप्पलाद नाम का महर्षि हुआ।

× × × ×

पिप्पलाद ने जब अपने माता-पिता की मृत्यु का समाचार सुना तो उसे देवताओं पर अत्यन्त क्रोध आया। उसने सोचा—"इन देवताओं ने अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिये मेरे पिता के जीवन को नष्ट कर दिया—मुझे जन्म से ही मातृ-पितृहीन कर दिया। अतः मैं देवताओं से बदला लूँगा। देवताओं को उनकी क्रूरता का फल चखाऊँगा, मैं भी उन्हें मारकर यम सदन पहुँचाऊँगा। ऐसा निश्चय करके उसने आशुतोष भगवान्—भोलानाथ की आराधना की। एक तो भोलानाथ वैसे ही 'आशुतोष-औघड़ दानी हैं, दूसरे उस मातृ-पितृ विहीन बालक की करुण पुकार सुनकर शीघ्र ही द्रवीभूत हो गये और उसके सम्मुख प्रकट हो कर उससे वरदान माँगने को कहा। उसने कहा—"जिन देवताओं ने मेरे पिता को अन्याय से मार डाला है उन्हें मारने के लिये मुझे शक्ति दीजिये।" भोले बाबा ने कहा—"तथास्तु, अच्छी बात है ऐसा ही होगा।" इतना कहकर शिव ने एक भयङ्कर

कृत्या उत्पन्न की। उस कृत्या ने पिप्पलाद मुनि से कहा—"बताइये मैं आपका कौन-सा कार्य करूँ ?"

इस पर पिप्पलाद मुनि ने कहा—"तू उन सब देवताओं को मार डाल जिन्होंने मेरे पिता की स्वार्थवश देह अपहरण की है।" इतना सुनते ही कृत्या देवताओं के ऊपर दौड़ी। देवताओं में भगदड़ मच गई। सर्वत्र हाहाकार होने लगा। देवता दौड़े-दौड़े भवानीपति-शङ्कर के समीप आये और अनुनय-विनय करके उनसे बोले—"महाभाग ! आप पिप्पलाद को समझा दें नहीं तो हम सब-के-सब मारे जायँगे।"

शिवजी ने भी सोचा, बात का बढ़ाना ठीक नहीं। दधीचि मुनि ने स्वयं ही परोपकार के लिये हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग किया था। अतः शिवजी ने परोपकार का महत्व बताते हुए पिप्पलाद को सब प्रकार से समझा दिया। शिवजी के समझाने पर पिप्पलाद भी शान्त हो गये, कृत्या शान्त हो गई। देवता प्रसन्न हुए। स्वर्ग से पिप्पलाद के माता-पिता दिव्य विमान पर चढ़कर अपने यशस्वी पुत्र को आशीर्वाद देने आये। पिप्पलाद की कृपा से ही वहाँ पिप्पलेश्वर शिव की स्थापना हुई और तभी से वह गङ्गातट पर परम पावन तीर्थ बन गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में दधीचि-मुनि की पत्नी और उनके पुत्र पिप्पलाद का 'इतिवृत्त' सुनाया, अब आप मुझसे क्या सुनना चाहते हैं।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"हाँ-तो, महाभाग ! वृत्रासुर को मारकर फिर इन्द्र ने क्या किया ? फिर उनके पुरोहित कौन हुए इस बात को और बताइये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! वृत्र के मारने से जिस प्रकार इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या लगी—उस अत्यन्त रोचक पुण्य-

मय उपाख्यान को मैं आप सबको सुनाता हूँ आप इसे कान-खोलकर श्रवण करें।"

छप्पय

लै दधीचि की अस्थि गये सुर अति हरषाई।
इत मुनि पत्नी न्हाइ-धोइ आश्रम महँ आई॥
सब सुनि काट्यो पेट, पुत्र तजि सती भई पुनि।
पीपल पाले पुत्र भये ते पिप्पलाद-मुनि॥
पिप्पलाद-मुनि सुरनि पै, कोप शंभु वर तें कियो।
सुरनि सरन शिव की लई, रुद्र शांत मुनि करि दियो॥

इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या

[४१५]

तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम्।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम्॥*
(श्री० भा० ६ स्क १३ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

त्वष्टा दूसर-तनय वृत्र यों मारयो सुरपति।
वृत्रासुर के मरत भये मुनि देव सुखी अति॥
मारयो ब्राह्मण-पुत्र ब्रह्महत्या पुनि आई।
चाण्डालिनि अति मलिनि इन्द्र के ऊपर धाई॥
डरे इन्द्र तहँ तें भगे, अति व्याकुल मन महँ भये।
मिली सरन जब कहूँ नहिँ, मानस-सर महँ घुसि गये॥

पुण्य और पाप प्रगट करने से कुछ काल में नष्ट हो जाते हैं। हमने कोई यज्ञ, दान, व्रत अथवा शुभकर्म किया—हम अपने ही मुख से चारों ओर उसका विज्ञापन करते फिरें—अपनी प्रशंसा स्वयं ही करें कि हमने यह किया वह किया! तो उस

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर के मर जाने पर इन्द्र ने देखा चाण्डालिनी के समान रूप बनाये हुए प्रत्यक्ष ब्रह्महत्या उनकी ओर चिपटने के लिये दौड़ी चली आ रही है। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर काँप रहा है, उसे क्षय रोग हुआ है, उसके वस्त्र मासिकधर्म के रक्त में सने हुए हैं।"

पुण्य का परलोक में कोई फल नहीं होता। यहाँ जो कुछ दिन साधु-साधु हुई, प्रशंसा फैली वह फल भी समाप्त हो गया। इसी प्रकार पाप की बात है! पाप करके हम स्वयं उसे सब पर प्रगट कर दें, उस पाप के करने से लज्जा का अनुभव करें, पश्चात्ताप के कारण किसी को मुँह दिखाने में भी संकोच करें और हृदय से—पश्चात्ताप पूर्वक भगवान् से—उसके लिये क्षमायाचना करें तो वह पाप भी नष्ट हो जाता है। पापी की जो निन्दा करते हैं, उसके पापों को वढ़ाकर-चढ़ाकर उसे अपमानित करने की भावना से सर्वत्र कहते फिरते हैं, उन निन्दकों पर पापी का पाप चला जाता है। अतः पाप करके उसे सब पर प्रगट कर देना चाहिये, हृदय से उसके लिये पछताना चाहिये और कभी भूलकर भी किसी की निन्दा न करनी चाहिये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर के मर जाने पर देवता, गन्धर्व, लोकपाल, मनुष्य, तिर्यक् सभी तीनों लोकों के प्राणी सुखी हुए, केवल देवराज-इन्द्र को छोड़कर। उस युद्ध को देखने के लिये ऋषि, मुनि, देवता, पितर साध्य गुह्यक, दैत्य-दानव, ब्रह्माजी, महादेवजी तथा स्वयं विष्णु भगवान् भी पधारे थे। वृत्र के मारे जाने पर सब अपने-अपने लोकों को चले गये। किन्तु इन्द्र को शांति नहीं हुई। वे बड़े दुखी और चिन्तित हुए।"

यह सुनकर आश्चर्य के सहित राजा परीक्षित ने पूछा—"प्रभो! यह आप कैसी बात कह रहे हैं? वृत्र के वध में सबसे अधिक प्रसन्नता तो इन्द्र को ही होनी चाहिये। वृत्रासुर इन्द्र का ही तो महान्—शत्रु था। त्वष्टा-ऋषि ने अपने तप और तेज से इन्द्र के मारने के लिये ही तो उसे उत्पन्न किया था! वह तो दैवेच्छा से स्वर का व्यतिक्रम होने के कारण पासा पलट गया। इन्द्र को मारने वाला न होकर इन्द्र जिसे मारे—ऐसा असुर उत्पन्न होगया। फिर भी रण में वृत्रासुर

ने इन्द्र के दाँत-खट्टे कर दिये उसे स्वर्ग के सिंहासन से भ्रष्ट कर दिया, घरबार विहीन बना दिया। ऐसे प्रवल-पराक्रमी शत्रु को मार कर भी इन्द्र बिमन क्यों वने रहे। उन्हें प्रसन्नता क्यों नहीं हुई ?"

यह सुनकर श्रीशुक बोले—"राजन् ! इन्द्र ने यह सोचा, कैसा भी हो—वृत्र था तो ब्राह्मण का पुत्र ही। असुर ही सही—था तो महान् ब्रह्मज्ञानी ! ब्रह्मज्ञानी—ब्राह्मण को मार देना सर्वथा पाप है।"

राजा ने पूछा—"महाराज ! जब देवराज को पता था कि यह ब्रह्मज्ञानी—ब्राह्मण है, तो उसे मारा ही क्यों ? क्षमा कर देते अपना लोटा-डोर और सत्तू बाँधकर घूमते रहते पृथ्वी पर ! इस ब्रह्महत्या के पाप से तो बच जाते। उन्होंने ऐसा साहस किया ही क्यों ?"

इस पर श्रीशुक बोले—"राजन् ! कुछ काम तो ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने आप उत्साह से किये जाते हैं, कुछ कार्य इच्छा न रहने पर भी धर्म के लिये—दूसरों के अनुरोध से—कर्तव्य-बुद्धि से किये जाते हैं। वृत्रासुर का वध इन्द्र ने महर्षियों के अनुरोध से ही किया था।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! ऋषियों ने ऐसा अनुचित अनुरोध स्वर्गाधिप-इन्द्र से किया ही क्यों ?"

इस पर शुक गंभीर होकर बोले—"महाराज ! उचित-अनुचित का वर्णन करना बड़ा कठिन हो जाता है। किसी एक के मारे जाने से हजारों का भला हो, असंख्यों-आदमी सुखी हों तो उसका मारना उचित न होने पर भी लोक के उपकार की दृष्टि से उचित ही माना जाता है। धर्म की वड़ी सूक्ष्म-गति है ! कहीं ऊपर से दीखने वाला धर्म अधर्म हो जाता है और कहीं पर अधर्म समझा जाने वाला कार्य धर्म से बढ़कर फल देने वाला सिद्ध

होता है ! बात यह थी कि, जब वृत्रासुर अपनी विशाल-काया से तीनों लोकों को त्रास देने लगा तब सभी ऋषि-महर्षि मिलकर देवराज-इन्द्र के समीप गये और उनकी स्तुति करके कहने लगे—"हे त्रिलोकेश ! आजकल वृत्रासुर सभी देवताओं तथा अन्य प्राणियों को पीड़ा दे रहा है। वह इतना बली है कि अन्य कोई उसे मार नहीं सकता, आप ही उसे मारने में समर्थ हैं ! अतः उसे आप मार डालिये।"

इस पर देवराज ने विनीत-भाव से कहा—"ऋषियो ! आप मुझसे ऐसा अनुचित-प्रस्ताव न करें। वृत्र, भगवान-त्वष्टा की अग्निहोत्र की अग्नि से उत्पन्न हुआ—'अयोनिज' पुत्र है। धर्म के मर्म को जानने वाला मैं, उस ब्राह्मण-कुमार को कैसे मार सकता हूँ।"

ऋषियों ने हँसकर कहा—"विश्वरूप भी तो ब्राह्मण था। इसका बड़ा भाई था, तुम्हारा गुरु-पुरोहित और पूजनीय था। परिवार का ही था उसे तुमने कैसे मारा ?"

देवराज ने कहा—"मुनियो ! उसका मारना भी अनुचित ही था, किन्तु देवताओं के कल्याण के लिये उसे मारना अनिवार्य बन गया। उसे मैंने अत्यन्त विवश होकर मारा था। मार तो डाला किन्तु उसके मारने पर जो हमें कष्ट उठाने पड़े उसे मैं ही जानता हूँ। यदि वृक्ष, पृथ्वी, जल और नारियों ने मेरी हत्या को न बँटाया होता; तो मैं अब तक हत्यारा ही बना रहता। मैंने तब तीनों-लोकों के सभी प्राणियों से कहा। इन चार परोपकारियों को छोड़कर सभी ने निषेध कर दिया। वह हत्या तो जैसे-तैसे बँट-वँटा गई, किन्तु अब यह जो नई-ब्रह्महत्या होगी उसे कौन बँटावेगा ! उसका मार्जन मैं कहाँ करूँगा ?"

इस पर ऋषियों ने कहा—"हे अमराधिप ! आप कैसी बातें कर रहे हैं। हम, आपको अश्वमेध-यज्ञ करावेंगे। अश्वमेध-

यज्ञ करने से राजा सभी प्रकार की हत्याओं के पापों से छूट जाता है। अश्वमेध-यज्ञ में होता क्या है? उन यज्ञपति सर्वान्तर्यामी—श्रीहरि का आराधन होता है, जिनके नाम का संकीर्तन करने से मनुष्य सभी पापों से छूट जाता है। यदि भूल से किसी से मातृ हत्या, पितृ-हत्या, गौ-हत्या या आचार्य-हत्या आदि महापाप हो गये हों—ब्राह्मण हो या शूद्र, पुल्कस हो या चांडाल, जिनके नाम का संकीर्तन करने से नीच-पुरुष भी तत्काल शुद्ध हो जाता है—उन भगवान् की आराधना कराके हम आपको ब्रह्महत्या से छुड़ा लेंगे! अबके आपको ब्रह्महत्या बाँटनी न पड़ेगी।"

यह सुनकर देवेन्द्र ने कहा—"मुनियो! उन्हीं महा-पापों का प्रायश्चित्त है जो अनजान में किये हों, जान-बूझकर—संकल्पपूर्वक—जो महापाप किये जाते हैं उनका कोई प्रायश्चित्त नहीं, फिर आप ऐसा लोक-निन्दित कर्म करने को क्यों कहते हैं?"

इस पर महर्षियों ने कहा—"सुरनायक! हम अपने बल-भरोसे आपसे यह सब कह रहे हैं। हम तो भगवन्नाम-कीर्तन के प्रभाव से आपको बड़े से बड़े पाप से छुड़ा सकते हैं। वृत्र तो असुर है, लोकों को त्रास देने वाला है, इसे मारने से जो पाप होगा—वह तो नगण्य ही होगा।"

जब महर्षियों ने छाती-ठोंककर, निर्भय होकर देवेन्द्र को इस प्रकार आश्वासन दिया, तब ही उन्होंने वृत्र का बध किया। ब्राह्मण वध करने पर ब्रह्म-हत्या ने उन पर आक्रमण किया। सब के सम्मुख ब्रह्म-हत्या को अपनी ओर आते देखकर इन्द्र को बड़ा दुःख हुआ। कहाँ लोग इन्द्र को तीनोंलोकों का स्वामी समझते थे, कहाँ ब्रह्महत्या उनका धर्षण करने के निमित्त उनकी ओर दौड़ी। राजन्! जैसे कोई बड़ा भारी न्यायाधीश है, सर्वत्र उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान है, सब लोग उससे डरते हैं, यदि

किसी कारण वश राजा की आज्ञा से उसके हाथ में हथकड़ी पड़ जाय तो जिस तरह वह अत्यन्त लज्जित होता है—उसी प्रकार इन्द्र को भी बड़ा सन्ताप सहना पड़ा! आत्मग्लानि के कारण उन्हें कल नहीं पड़ती थी, निरंतर बेचैन बने रहते थे। कैसा भी सहनशील, धैर्यवान् पुरुष क्यों न हो; अपकीर्ति के कारण वे भी विचलित हो जाते हैं।

भयंकर-वेष बनाये ब्रह्महत्या देवेन्द्र के ऊपर दाँत निकाले दौड़ी। वह देखने में साक्षात् चांडाली जैसी दिखाई देती थी। अंजन के समान वह काली-कलूटी थी, सभी अंगों में झुर्रियाँ पड़ रही थीं। बड़े-बड़े ओठ थे, काले-काले बड़े दाँतों को निकाले हुए वह बड़ी ही डरावनी लगती थी। वृद्धावस्था के कारण लच भी रही था, मुँह पिचक रहा था, अत्यन्त दुबली-पतली ऐसी प्रतीत होती थी मानों उसे राजयक्ष्मा-रोग हो रहा है। उसके सम्पूर्ण शरीर से सड़ी हुई मछली जैसी दुर्गन्ध आ रही थी। मुखसे भी ऐसी दुर्गन्ध आ रही थी मानों उसके मुँह में मुर्दा सड़ गया। उसके वस्त्र अत्यन्त ही शीर्ण-जीर्ण थे। केश रूखे और भूरे-भूरे थे, वे बिखरे हुये भी थे। फटे हुए वस्त्रों से उसके वस्त्र लथपथ थे, उन पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पैरों पर मैल जमा हुआ था, नथुनों से नाक बह रही थी, आँखों में कीचड़ भरी हुई थीं। वह इन्द्र को ही लक्ष्य करके चली आ रही थी और बार-बार कहती थी—"इन्द्र तू ठहर, मैं तेरे शरीर में लगूँगी, तेरे ही सिर पर सवार हूँगी!" बेचारे इन्द्र क्या करते। ऋषियों ने धोखा दिया। चंग पर चढ़ाकर वे सब तो नौ-दो-ग्यारह हुए। अब न कोई यज्ञ कराने आया न बात पूछने। इन्द्र मुट्ठी बाँधकर भागे। ब्रह्महत्या ने भी उनका पीछा किया। यमलोक, वरुणलोक, कुबेरलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक सभी लोकों में घूमे, किसी ने उन्हें आश्रय न दिया। अब क्या करते? ये पुरुष वज्र-हृदय के

होते हैं, उन्हें माँ-कमला की याद आई। इस विपत्ति से माँ-ही तो रक्षा कर सकती है! अतः माँ-लक्ष्मी की शरण चलें। सुनते हैं, वे उत्तरदिशा में मानसरोवर के कमलों में रहती हैं! अतः 'इन्द्र' पूर्व और उत्तर के कोने में स्थित मानसरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ वे एक कमल की नाल में घुस गये। इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई क्या करें! बाहर निकलते हैं तो ब्रह्महत्या चिपट जायेगी; यहाँ रहें तो खायँ क्या? देवताओं के मुख हैं—अग्निदेव। यज्ञ में देवताओं के निमित्त जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें अग्निदेव ही सब देवताओं को पहुँचाते हैं। पानी के भीतर अग्निदेव जायँ तो ठंडे हो जायँ! अतः वहाँ इन्द्र को कुछ आहार न मिला। वे एक सहस्रवर्ष उपवास करते हुए—बिना कुछ खाये पिये—उसी कमल-नाल में छिपे रहे।

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! जब एक-सहस्रवर्ष इन्द्र अलक्षित-भाव से मानसरोवर में कमल की नाल में छिपे रहे तब क्या इतने दिनों तक इन्द्रासन खाली ही पड़ा रहा? त्रैलोक्य का पालन-पोषण कैसे हुआ? इन्द्र के बिना यज्ञों का हविर्भाग किसने लिया और समय पर वृष्टि किसने की?"

यह सुनकर श्रीशुकदेव जी ने कहा—"राजन्! इन्द्रपद तो कभी रिक्त रह ही नहीं सकता! देवेन्द्र के अभाव में राजा-नहुष को स्थानापन्न-इन्द्र बनाया गया। तब तक वे ही इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित होकर त्रैलोक्य का पालन करते रहे। अन्त में वे भी अपनी काली-करतूतों के कारण इन्द्रपद से च्युत हुए?"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाराजनहुष ने क्या पाप-पुण्य किया था उसे आप हमें सुनावें।"

सूतजी यह कहकर बोले—"मुनियो! अब मैं इस वृत्तान्त को आप सबके सम्मुख कहूँगा, आप सब इसे एकाग्र-चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कमलनाल महँ रहें ब्रह्म-हत्यारे शचि-पति।
मिले न तहँ आहार भई सुरपति की दुर्गति॥
स्वर्ग इन्द्र बिनु भयो नहुष सुर—इन्द्र बनाये।
पाइ स्वर्ग समपत्ति मनुज-भूपति बौराये॥
इन्द्रानी तें कहें नृप, 'पौलोमी' अब हठ तजो।
मैं शासक हूँ स्वर्गपति, इन्द्र मानि मोकूँ भजो॥
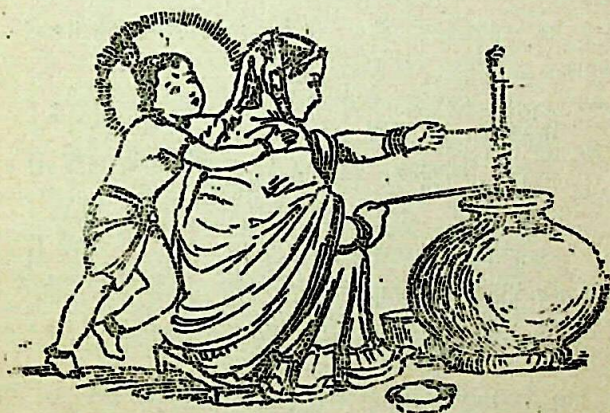
स्थानापन्न—इन्द्र नहुष का स्वर्ग से पतन

[४१६]

तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास
विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धि-
र्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ।।*
(श्री भा० ६ स्कन्द १३ अ० १६ श्लो०

छप्पय

नये-इन्द्र की बात शची सुनि अति घबराई ।
चिंतित, व्याकुल, दुखी, डरी, सुरगुरु ढिँग आई ।।
गुरु प्रसन्न है युक्ति अनोखी ताहि बताई ।
कामी-विषयासक्त-नृपति पै बात पठाई ।।
ऋषि-कंधनि शिविका धरैं, चढ़ि मम ढिँग आवें अवसि ।
तो निज-पति केई सरिस, वरन करूँ तिनकूँ हरषि ।।

धन, ऐश्वर्य, यौवन और प्रभुत्व पाकर भी जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन बनी रहें, उसे भगवान् का परम कृपापात्र समझना

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब तक इन्द्र छिपे रहे, तब तक महाराज-नहुष अपने विद्या, तप योग और बल से सम्पन्न होकर स्वर्ग का शासन करते रहे । किन्तु उनकी बुद्धि सम्पदा और ऐश्वर्य के कारण मदान्ध हो गयी । इसीलिये इन्द्राणी के तिरस्कार के कारण वे तिर्यक (सर्पयोनि) को प्राप्त हुए ।"

चाहिये। संसार में ऐसे व्यक्ति, बिरले ही देखने में मिलते हैं। अधिकार और ऐश्वर्य का मद ऐसा होता है कि, मनुष्य के सम्पूर्ण विवेक को नष्ट कर देता है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रह ही नहीं जाता। अधिकारारूढ़ हो जाने पर मनुष्य समझने लगता है—मेरा हाथ पकड़ने वाला कौन है? मेरे जो मन में आवेगा वही मैं करूँगा। मैं प्रभु हूँ, स्वामी हूँ, सब सेवक हैं, सब को मेरी इच्छा के अनुसार बर्ताव करना चाहिये। मेरी हाँ में हाँ मिलानी चाहिये। मेरी आज्ञा का अविलम्ब पालन होना चाहिये। मैं जो करता हूँ ठीक करता हूँ। मुझसे भूल हो ही नहीं सकती। मेरा तिरस्कार करने वाला—मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वाला—मेरा शत्रु है। उसका अस्तित्व मिटा दो। जिसे रहना हो मेरी इच्छा के अनुसार रहे। ये सब विचार, अविवेक से—काम तथा अहंकार के कारण—उठते हैं और इन्हीं विचारों से मनुष्य का पतन होता है।

श्री सूतजी, नैमिषारण्य निवासी मुनियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जब वृत्रासुर मारा गया और इन्द्र भी मानसरोवर में ब्रह्महत्या के भय से जा छिपे तो इन्द्रासन खाली हो गया। अब त्रैलोक्य का कार्य कैसे चले? इन्द्र के बिना यज्ञ-याग, वर्षा आदि कौन करे? असुर तो पराजित हो ही चुके थे। देवताओं में ऐसा कोई था नहीं। ऋषियों ने सोचा—"मनुष्यलोक के किसी विख्यात राजर्षि को तब तक के लिये स्थानापन्न-इन्द्र बना देना चाहिये।" यह सोचकर सभी ऋषि-महर्षि, देवता तथा उपदेव मिलकर पृथ्वी में आये। उन दिनों पृथ्वी पर चन्द्रवंशी परम यशस्वी-महाराज 'आयु' के पुत्र राजर्षि-नहुष राज्य करते थे। वे बड़े धर्मात्मा, तेजस्वी, यशस्वी और दान-धर्म में निरन्तर निरत रहने वाले थे। उन्होंने बहुत से यज्ञ भी किये थे। ऋषियों ने उनके समीप जाकर कहा—"राजन्, आप तब तक स्वर्ग के इन्द्र बन जायँ जब तक देवेन्द्र लौटकर नहीं आते।"

ऋषि-मुनियों का सत्कार करके, उनकी विधिवत् पूजा करके राजर्षि-नहुष बोले—"मुनियो! आपकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा है जो आप मुझ मरणशील-व्यक्ति को देवताओं के आधिपत्य पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। किन्तु महर्षियों, मैं सर्वथा इसके अयोग्य हूँ। मुझमें न इतना तप है न तेज, न विद्या है न योग। और नहीं शक्ति। फिर स्वर्ग का शासन कैसे कर सकता हूँ?"

ऋषियों ने कहा—"हे आयुष्मन्! आप बड़े धर्मात्मा हैं। आप सर्वथा इन्द्रपद के योग्य हैं। रही तप, तेज, विद्या और योग्य-शक्ति की बात, सो हम सब मिलकर आपको अपना तप तेज देंगे।"

राजा ने कहा—"महर्षियो! आप मुझे ऐसा वरदान दें कि, मैं जिसकी ओर भी देख दूँ—उसका उसी समय आधा तप-तेज मेरे पास चला आवे जो भी मेरे सम्मुख आवे वही तेजहीन हो जाय।"

ऋषियों और देवताओं को तो अपना काम निकालना था, अतः उन्होंने कहा—"अच्छी बात है राजन्! ऐसा ही हो जायगा, आप चलकर इन्द्रासन को सुशोभित करें।"

यह सुनकर राजा-नहुष को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे पृथ्वी से स्वर्ग में आ गये। ऋषि-मुनियों ने विधिवत् उनका इन्द्रासन पर अभिषेक किया। अपना अपमान करने वाले इन्द्र को पदच्युत देखकर भगवान्-बृहस्पति भी फिर आ गये। नहुष बड़े ठाट-बाट से इन्द्रासन का उपभोग करने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रायः देखा गया है कि छोटा—आदमी जब बड़े-पद को प्राप्त कर लेता है तो वह अपनी पुरानी परिस्थित को भूल जाता है, उसे बड़ा अभिमान हो जाता है। उस अभिमान से उसका उसी प्रकार पतन होता है, जैसे मध्यान्ह के प्रचण्ड-सूर्य का सांयकाल में—अस्ताचल में जाकर—पतन होता

है। कुछ दिन तो नहुष ठीक-ठीक कार्य करता रहा, किन्तु कहाँ तो मर्त्यलोक के क्षणभंगुर विषय-सुख, कहाँ स्वर्ग का दिव्य-ऐश्वर्य ! कहाँ अन्न का भोजन और कहाँ अमृत-पान !! नहुष को अभिमान बढ़ गया। अब तो ऋषियों का भी अपमान करने लगा। कोई कुछ कहता तो डाँट देता—झिड़क देता। मुनिगण चुप हो जाते, क्या करते ? वे हाथ तो पहिले ही से कटा चुके थे। जो भी उसके सामने आता, उसका तप-तेज वह वरदान के प्रभाव से हरण कर लेता। तब तो ऋषि-संघ में राज्यक्रांति होने लगी। इस नये इन्द्र के सभी लोग विरुद्ध हो गये। ऋषियों ने देवगुरु-बृहस्पति से कहा। बृहस्पतिजी ने जब सुन-समझकर कहा—"देखो, अब तुम्हारी कुछ चलने की नहीं। तुम तो उसे वरदान दे ही चुके। जब मनुष्य, गुरुओं का अपमान करता है और नर-नारियों पर कुदृष्टि डालता है तभी उसका पतन होता है। यह ऋषियों का तो अपमान करता है, किन्तु अभी इसने पर-नारी पर कुदृष्टि नहीं डाली। जब यह अपने इस धर्म से च्युत हो जायगा तब अपने आप इस पुण्य-पद से गिर जायगा।"

ऋषियों को नहुष की बातें बहुत बुरी लगती थीं। उन्होंने ऋषि-समितिका गुप्तरूप से एक विशेष-अधिवेशन किया और यह प्रस्ताव रखा कि, इस उद्धत-राजा को इन्द्रपद से किसी प्रकार च्युत कर देना चाहिए। एक ऋषिने कहा—"इस समिति का एक सभापति चुनलो। मैं समझता हूँ—ये अगस्त-मुनि उसके सर्वथा उपयुक्त हैं, इन्होंने विन्ध्याचल को पट्ट लिटा दिया और आतापी को खाकर पचा गये, समुद्र को सोख गये। इस अब्रह्मण्य राजा को भी ये इन्द्र-पद से युक्तिपूर्वक च्युत कर सकेंगे।"

सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और ऋषि-मुनि अनुकूल समय की प्रतिक्षा करने लगे। जो अप्सरायें नहुष की सभा में नाचती थीं, वे अपने गीतों में 'पौलोमी इन्द्राणी' के रूप-

सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा किया करती थीं। प्रतीत होता है उन सबों के किसी ने कान भर दिये थे। ये इन्द्राणी की प्रशंसा सुनकर नहुष के मन में उसे पाने की प्रबल इच्छा हुई। एक दिन उसने इन्द्राणी के भव्य-भवन को निहारा और गन्धर्वों से पूछा—"यह इतना सुन्दर किसका भवन है ?"

हाथ जोड़े हुए गंधर्वों ने कहा—"प्रभो, यह इन्द्र-पत्नी भगवती-शचीदेवी का अंतःपुर है। इसमें कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता।"

राजा तो ऐश्वर्य के मद में मदांध हो ही रहा था। उसने कहा—"जब हम इन्द्र हैं तो इन्द्राणी को भी हमारी सेवा करनी चाहिये। वह हमारे पास क्यों नहीं आती ? यह तो हमारा प्रत्यक्ष अपमान है।"

यह सुनकर तुरन्त वायुदेव को बुलाया और उनसे बोला—"वायु ! तुम्हारी सर्वत्र गति है। तुम मेरी आज्ञा से इन्द्राणी के पास जाओ और उससे मेरी ओर से कहो वह मुझे वरण करे मैं इन्द्र हूँ। न्यायतः जो इस पद पर प्रतिष्ठित है, इन्द्राणी उसी की पत्नी है। उसे मेरी सेवा करनी चाहिये।"

विचारे वायुदेव क्या करते। बात उन्हें बुरी लगी, किन्तु इन्द्र की आज्ञा पालन करनी ही थी। शचीदेवी के समीप जाकर सब समाचार कह सुनाया। नहुष के ऐसे प्रस्ताव को सुनकर शची-देवी बड़ी घबड़ाई—अत्यंत दुखी हुई। उन्हें चिन्ता व्याप गई कि, दुष्ट कहीं मेरे साथ बलात्कार न करे। बलपूर्वक मेरा सतीत्व न नष्ट कर देवे। इन विचारों के आने से वे डर गईं। थर-थर काँपने लगीं और अशरण-शरण श्री हरि का मन-ही-मन स्मरण करने लगीं। अंत में उन्हें एक युक्ति सूझी—वे अपने कुलगुरु भगवान्-बृहस्पति के समीप गईं। उनकी चरण-वंदना करके वे उनके सामने बिलख-बिलख कर रोने लगीं।

त्रैलोक्यपति-इन्द्र की पत्नी को इस प्रकार दीन-हीन अनाथिन की भाँति बिलखते देखकर बृहस्पति जी को बड़ी दया आई और वे बोले—"बेटी ! तू क्यों रो रही है, मुझे अपने दुख का कारण बता। किसने तेरा अनिष्ट किया है ?"

सुबकियाँ भरती हुई शची ने कहा—"प्रभो ! कौन किसका अनिष्ट कर सकता है ? भाग्य ही सब कुछ कराता है। हे कृपा सिंधो ! हमने अपने किये हुए का बहुत फल पा लिया। गुरु के अपमान का फल हमें बहुत मिल गया। हमारा राज्य नष्ट हुआ, शत्रुओं ने हमें घर-द्वार हीन कर दिया। अनाथ की भाँति मारे-मारे फिरे। ऐश्वर्य से हीन हुए। ब्रह्महत्या हमारे सिर पर चढ़ी। आज मैं अपने पति से विहीन होकर अपने दिन काट रही हूँ। कौन अनुमान कर सकता है कि तीनों-लोकों के स्वामी इन्द्र की पत्नी इतने भारी कष्ट में पड़कर दिन बिता रही है। गुरुदेव ! मैं तो शूकरी-कूकरी को अपने से लाखगुना सुखी समझती हूँ कि वे अपने पतियों के साथ तो रहती हैं। मैं बड़े कष्ट से पति के वियोग रूप दुख को सहन कर रही थी, कि अब मेरे सिरपर एक नई बड़ी भारी-विपत्ति आ टूटी। अब तक मैं जैसे-तैसे अपने सतीत्व को बचाये हुए थी, अब देखती हूँ उसकी भी रक्षा में संदेह है।"

यह सुनकर भगवान् बृहस्पति, दुखित होकर सहानुभूति के स्वर में बोले—"देवी ! तुम्हारा किसने अपमान किया ? कौन तुम्हें बुरी दृष्टि से देखने का साहस कर सकता है ? तुम मुझे उस दुष्ट का नाम बताओ—मैं उसे अभी अपने तप-तेजसे भस्मसात् कर दूँगा।"

हाथ जोड़े हुए काँपते-काँपते शची ने कहा—"प्रभो ! यह जो नया-इन्द्र आपने बनाया है, आज इसी ने मेरे समीप वायुदेव को अनुचित-प्रस्ताव लेकर भेजा है।" वह कहता है—"मैं नियमा-

नुसार इन्द्र हूँ, तुम मेरी सेवा करो और मेरी इन्द्राणी बनो।"

यह सुनकर, सुर-गुरु-बृहस्पति-मुनि गंभीर हो गये और बोले—"बेटी ! यह तो बड़ी कठिन-समस्या है। ऋषियों ने बिना इसके स्वभाव को समझे इसे बहुत बड़ा वरदान दे दिया। इसके सम्मुख जो जाता है, उसी का यह वरदान से तप-तेज हर लेता है। किन्तु फिर भी कोई चिन्ता की बात नहीं। प्रतीत होता है अब इसके पुण्य क्षीण हो रहे हैं। इसका स्वर्ग से पतन होने वाला है, तभी तो इसके मन में तुझ जैसी सती-साध्वी के प्रति पाप-बुद्धि उत्पन्न हुई है। कोई चिन्ता नहीं, तू उसके पास संदेश भेज दे कि सहस्र-मुनियों को अपनी पालकी में लगाकर, उन पर चढ़कर अमुक समय आप यहाँ आवें तो मैं आपकी सेवा करूँगी।"

गुरु की आज्ञा पाकर शची ने ऐसा ही संदेह, नहुष के पास भेज दिया। इसे सुनकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सब ऋषियों-महर्षियों को बुलवाया और कहा—"आज तुम सबको मेरी पालकी उठाकर ले चलनी पड़ेगी। समझे कुछ ? जो इगिर-दिगिर करेगा उसके डंडे लगेंगे।"

मुनि बिचारे क्या करते ? सबकी ओर देख-देखकर उसने उनका तप हरण कर लिया था, उसके सम्मुख मना करने का किसी को साहस ही नहीं हुआ। सब ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा।"

नहुष ने सेवकों से 'शिविका' सजाने को कहा। सेवक, शिविका सजाने लगे, वह अपना स्वयं श्रृंगार करने लगा। आज इसने बड़े मनोयोग से श्रृंगार किया कि शची उसका रूप देखकर ही मुग्ध हो जाय, प्रसन्नतापूर्वक मुझे अपना ले और स्वेच्छा से अपना पति बना लेवे। श्रृंगार करते-करते इसे बहुत बिलम्ब हो गया। झटपट निकलकर शिविका में बैठ गया और ऋषियों से बोला—"मेरी पालकी को अति शीघ्र शची के शयनागार की

ओर ले चलो।" ऋषियों ने विवश होकर जैसे-तैसे उसे उठाया। इन्द्राणी ने जो समय नियुक्त किया था वह समीप ही आ गया

था, नहुष को उससे मिलने की चटपटी लगी हुई थी। अतः वह बार-बार ऋषियों से कहता "शीघ्रमेव सर्प-सर्प।" अर्थात् शीघ्र

चलो। किन्तु ऋषियों से शीघ्र कब चला जाता है ? कोई यज्ञ-याग कराना होता तो शीघ्रता करते या प्रसाद पाना होता, निमन्त्रण उड़ाना होता तो दूसरी बात थी। इन सबका तो उन्हें नित्य का अभ्यास था। अब उन्हें एक अनभ्यस्त कार्य में बलपूर्वक नियुक्त कर दिया गया था। एक तो सबके शरीर कुछ स्थूल थे दूसरे ऋषि ही ठहरे। कभी भी किसी की ऐसी आज्ञा सहन नहीं की, फिर भी शीघ्रता से चलने लगे।

इतने पर भी नहुष को सन्तोष नहीं हुआ। वह ऋषियों पर पादाघात करने लगा और बारम्बार सर्प-सर्प, चलो-चलो चिल्लाने लगा। इस पर एक दूसरे मुनि की जटा में छिपे हुए अगस्त्य मुनि ने उसे शाप दे दिया—"अरे दुष्ट ! ले बार-बार हम ऋषियों को 'सर्प-सर्प' कहता है जा तू ही सर्प हो जा।"

इतना सुनते ही ऋषि के शाप से नहुष औंधे मुँह गिर पड़ा-वह सर्प हो गया। इन्द्रासन पुनः खाली हो गया। अब ऋषियों को पुनः इन्द्र की चिन्ता हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने यह नहुष से स्वर्ग से पतन की अत्यन्त ही संक्षेप में कथा सुनाई। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

इस पर शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! हम अब अग्रिम वृत्तान्त सुनने को उत्सुक हैं। इन्द्र का क्या हुआ ? इन्द्रासन पर फिर कौन बैठा ? देवेन्द्र को यह दूसरी ब्रह्महत्या छूटी या नहीं ? इन सब बातों को आप बतावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"अच्छी बात है, मुनियो ! मैं इस परम रोचक प्रसङ्ग को आगे सुनाता हूँ आप मनोयोग से सुनें।"

छप्पय

चढ्यो पालकी नहुष सहस मुनि ताहि उठावें।
'सर्प-सर्प' नृप कहे अनसुनी ऋषि करि जावें॥
अति जब करिबे लग्यो कोप कुंभज मुनि कीन्हों।
दुष्ट होइ तू सर्प शाप मुनिवर ने दीन्हों॥
चट्ट-पट्ट अजगर भयो, औंधे मुह ते गिरि पर्यो।
तुरत पाप को फल चख्यो, इन्द्राणी प्रति जस कर्यो॥

निष्पाप हुए इन्द्र को पुनः इन्द्रपद प्राप्ति

[४१७]

स वाजिमेधेन यथोदितेन
वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराण-
मिंद्रो महानास विभूतपापः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १३ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

भयो पाप को अन्त गये सब मिलिके ऋषि मुनि ।
देवराज कूँ लाय करायो अश्वमेध पुनि ॥
ज्यों कुहरा नसि जाइ उदित दिन के ह्वै तें ।
पाप पुञ्ज त्यों नसे नाम हरि को लैवे तें ॥
इन्द्र, नाकपति पुनि भये, त्रिभुवन अति हर्षित भयो ।
यों दधीचि को त्याग अरु, वृत्रासुर को वध कह्यो ॥

मन में जब तक अत्यधिक पाप रहते हैं, तब तक शुभ कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होती। पापात्माओं की पापों में और पुण्यात्माओं की पुण्य कार्यों में स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है। जब

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से मरीचादि महर्षियों ने देवराज इन्द्र को अश्वमेघ यज्ञ कराया। उस यज्ञ के द्वारा पुराण पुरुष यज्ञरूप श्रीहरि का भजन करके, इन्द्र निष्पाप होकर पूर्ववत् महान हो गये।"

भगवत् कृपा से पापों के क्षय का समय सन्निकट आ जाता है तब वैसे ही बानिक बनने लगते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं और अपकारी उपकार करने की बात सोचने लगते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियाँ अनुकूल होने लगती हैं और दुर्भाग्य हटकर सौभाग्य का पदार्पण होने लगता है। इसी को कहते हैं—काल का प्रभाव।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वृत्रासुर के मारे जाने पर इन्द्र को जो ब्रह्महत्या लगी थी, उसके अन्त होने का समय आ गया। सहस्र वर्ष निराहार रहकर और जल में छिपे-छिपे इन्द्र ने जो तपस्या की थी--भगवान् का स्मरण किया था, इसी से उनके सब पाप क्षीण हो गये। इधर नहुष को जो सहस्र वर्ष तक इन्द्र बनने का पुण्य भोग करना था, उसकी भी समाप्ति हो गई। वे पुण्य के क्षीण होने पर अजगर बनकर पृथ्वी पर गिर पड़े।"

अब तो फिर ऋषि, मुनि, देवता, गन्धर्व तथा तीनों लोकों के जीवों को इन्द्र की चिन्ता हुई। ऋषियों के संघ का पुनः अधिवेशन हुआ। उसमें निश्चय हुआ पुराने इन्द्र को खोजा जाय। अग्निदेव को दूत बनाकर भेजा गया। जैसे-तैसे अग्निदेव ने उनसे ऋषियों का सन्देश कहा। ऋषियों ने मेरे ऊपर कृपा की है यह सुनकर इन्द्र को प्रसन्नता हुई। वे मरीचादि महर्षियों की शरण में आये। ऋषियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया और सर्व पाप शमन के लिये भगवान् पुरुषोत्तम की आराधनारूप अश्वमेध यज्ञ की विधिवत् दीक्षा दी। जब उन वेदवादी मुनियों ने अश्वमेध यज्ञ के द्वारा सर्व वेदमय परम पुरुष परमात्मा का प्रेम पूर्वक भजन कराया, तो उसी से उनका वृत्रवध जनित महान् पाप-पुञ्ज विलीन हो गया। देवेन्द्र उसी प्रकार विशुद्ध बन गये, जैसे अग्नि में तपने से सुवर्ण मल रहित हो जाता है। वर्षा कालीन जल में निर्मली डालने से जैसे वह शुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार मासिक-धर्म के अनन्तर नारियाँ शुद्ध हो जाती हैं, ग्रहण

के अनन्तर सूर्य चन्द्र पुनः विशुद्ध बन जाते हैं, तपाने से घृत शुद्ध हो जाता है, अपवित्र पृथ्वी जैसे काल पाकर स्वतः ही शुद्ध हो जाती है, स्नान करने से जैसे शरीर शुद्ध हो जाता है, अपवित्र पात्र इत्यादि शुद्ध करने से विशुद्ध हो जाते हैं। जैसे संस्कारों से द्विज, तप से इन्द्रियाँ और मन, दान से धन तथा सन्तोष से चित्त शुद्ध बन जाता है। उसी प्रकार भगवत् आराधना रूप अश्वमेध यज्ञ से इन्द्र भी विशुद्ध हो गये। उनके समस्त पाप धुल गये। वे पुनः उसी प्रकार तोनों लोकों के पूजनीय, माननीय, वन्दनीय, अर्चनीय, सम्माननीय तथा आदरणीय बन गये। चिरकाल से बिछड़े अपने पति को पाकर पौलोमी इन्द्राणी अत्यन्त ही प्रसन्न हुई। इन्द्र ने विनीत भाव से जाकर अपने गुरुदेव के पाद पद्मों में श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम किया और अपनी पुरानी अविनय के लिये विशुद्ध हृदय से पश्चात्ताप करते हुए क्षमा याचना की। इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए बृहस्पति जी ने कहा—"देवेन्द्र ! तुम न तो मुझे दोष देना और न अपनी इस दुर्गति पर दुख ही करना। कौन किसे दुख-सुख देता है ? यह सब काल ही कराता रहता है। जिस समय जैसा काल होता है, उस समय पुरुष की वैसी ही बुद्धि बन जाती है। वैसे ही कार्य करता है, वैसे ही कर्म करने की अन्तःकरण से प्रेरणा भी होने लगती है। जैसी भवितव्यता होती है उसी के अनुरूप संयोग जुटने लगते हैं। उसी से प्रेरित होकर ऋषि मुनि शाप और वरदान देते हैं। आपका ऐसा प्रारब्ध ही था। कोई अनिष्ट ग्रह का संयोग था, अच्छा ही हुआ उसे भोगकर आपने समाप्त कर लिया। प्रारब्ध कर्मों का भोग तो सभी को भोगना ही पड़ता है। अन्तर इतना ही है कि बुद्धिमान पुरुष विवेक के साथ सुख-दुख में समवृत्ति रखकर, अवश्यम्भावी समझकर उसे निर्लेप भाव से भोगते हैं और अज्ञानी पुरुष कष्ट से रोते हुए दुख पूर्वक भोगते

हैं। भोगना तो सभी को पड़ता है। अब आप विशुद्ध होकर तीनों लोकों का न्यायपूर्वक पालन करो। मंगलमय श्रीहरि तुम्हारा मङ्गल करेंगे।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने आपसे वृत्रासुर के वध का परम पुण्य महान आख्यान सुनाया। इसमें इन्द्र का ऐश्वर्य मद, बृहस्पति जी का अन्तर्ध्यान होना, असुरों की सुरों पर चढ़ाई, शुक्राचार्य की सहायता से असुरों की विजय, पराजित देवों का भगवान् ब्रह्माजी की शरण में जाना, स्तुति करना, भगवान् ब्रह्मा का उन्हें विश्वरूप को गुरु बनाने का उपदेश देना देवताओं का 'विश्वरूप' को गुरु बनाना, असुरों का पक्ष लेने से देवेन्द्र द्वारा विश्व रूप का वध और त्वष्टा का क्रुद्ध होकर वृत्रासुर को उत्पन्न करना। वृत्र के भय से भागकर देवताओं का भगवान् की शरण में जाना, भगवान् का उन्हें उपाय बताना, भगवान् के बताये उपाय से देवताओं का दधीचि मुनि के आश्रम में जाना और उनसे हड्डियों का माँगना, ऋषि का स्वीकार करके शरीर छोड़ देना। विश्वकर्मा का ऋषि की हड्डियों से वज्रादि अस्त्रों का निर्माण करना, देवताओं और असुरों का भयङ्कर संग्राम होना, संग्राम-भूमि में वृत्रासुर की अद्भुत भगवद्भक्ति का प्रकट होना, इन्द्र द्वारा वृत्र का वध। इन्द्र को पुनः ब्रह्महत्या और ऋषियों द्वारा अश्वमेध यज्ञ कराके उनकी शुद्धि आदि विषय वर्णन किये गये हैं।"

यह आख्यान सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाला है। इसमें भगवान् के नाम, गुण, कीर्तन की महिमा का वर्णन है। भक्तों के विशुद्ध चरित्र और उनकी अहैतुकी अनन्य भक्ति का निरूपण किया गया है। इस आख्यान को एक बार ही पढ़कर न छोड़ देना चाहिये, कि एक बार पढ़ तो लिया। नहीं नहीं, इसे बार-बार पढ़ना चाहिये। पुनः-पुनः मनन करना चाहिये। पूर्वकाल

उपस्थित होने पर, यात्रा में, मित्रों की गोष्ठी में, श्राद्धादि के समय, पुण्य क्षेत्रों में, इस भक्ति वर्धक आख्यान के पढ़ने से मन पवित्र होता है। चित्त में शान्ति आती है। अन्तःकरण में आह्लाद उत्पन्न होता है। इस लोक में धन, यश, विजय, दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है और परलोक में भी इच्छानुसार सुख मिलता है।

श्री सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहकर मेरे गुरुदेव भगवान् शुक चुप हो गये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इस पुण्य आख्यान के श्रवण करने से तो हमें बड़ा सुख मिला। इसमें वैसे तो सभी बातें एक से एक बढ़कर हैं, किन्तु दो प्रसङ्ग इसमें बड़े ही मार्मिक और हृदय स्पर्शी प्रतीत हुए। एक तो दधीचि मुनि का त्याग और दूसरी वृत्रासुर की विरुद्ध अहैतुकी भगवद्भक्ति ! महाभाग ! असुर शरीर में भी भगवान् के प्रति ऐसा दृढ़ अनुराग हमने तो कहीं सुना नहीं। फिर घोर समर में जहाँ एक योद्धा दूसरे योद्धा के रक्त का ही प्यासा बना रहता है, जहाँ क्षण-क्षण में क्रोध आता है, यहाँ भी समभाव में स्थित रहकर भगवान् की इतने स्नेह से स्तुति करना; इससे तो हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है। वृत्रासुर की ऋषि मुनि और योगियों से भी श्रेष्ठ ऐसी मति किस कारण से—किस साधन से हुई और इतने बड़े भगवद्भक्त को आसुरी योनि किस अपराध से प्राप्त हुई ? इन बातों को सुनने की हमारे मन में बड़ी लालसा है। यदि आप उचित समझें तो इस प्रसंग को हमें और समझा दें।"

यह सुनकर सूतजी गम्भीर होकर कहने लगे—"मुनियो ! भगवद्-भक्ति एक जन्म का फल नहीं है। वह साधन-साध्य नहीं—कृपा-साध्य है ! भगवान् जिस पर कृपा कर दें, जिस विशुद्ध अन्तःकरण वाले महापुरुष के हृदयरूपक्षेत्र में भक्ति के

बीज का वपन कर दें। महाभाग ! हजारों-लाखों जन्मों में तप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शुभ-कर्म करने से अन्तःकरण विशुद्ध होता है। उनमें से किसी विरले-पुरुष के हृदय में भागवती-भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सो, मुनियो ! यह वृत्रासुर के पूर्व-जन्मों के सुकृतों का ही फल है, रही—आसुरी-योनि की बात सो, भक्त इन शरीरों को महत्त्व नहीं देते। ये देह तो आत्मा के आवरण मात्र हैं। जैसे राजा कैसा भी वस्त्र पहिने राजा ही है। भगवद्भक्त तो पशु, पक्षी, कीट पतंग, वृक्ष, लता, गुल्म, मनुष्य, देवता, स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र, सभी में पाये जाते हैं। इसमें आप सन्देह न करें। वृत्रासुर ने भगवान्-सङ्कर्षण की बड़ी सावधानी से—पूर्वजन्म में—आराधना उपासना की थी। उसी का यह फल था, कि आसुरी-योनि में भी उसका प्रभु-पादपद्मों में दृढ़ अनुराग बना ही रहा।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! हमें वृत्रासुर के पूर्वजन्म का चरित्र सुना दीजिये। इसे सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

इस पर सूतजी ने कहा—"मुनियो ! मैं आपको वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृतान्त अवश्य सुनाऊँगा। मेरे गुरुदेव से भी महाराज परीक्षित ने यही प्रश्न पूछा था—उन्हें भी आप ही की भाँति बड़ा कौतूहल हुआ था, उस परम पुण्य उपाख्यान को मैं सुनाऊँगा। आप अपने मन को तनिक भी इधर-उधर न होने दें। यह इतना रोचक, सारगर्भित और मन को प्रसन्न करने वाला इतिहास है कि आप दत्तचित्त होकर सुनेंगे तो सुखी होंगे। तनिक भी चित्त-चंचल हुआ तो "गोविन्दाय नमो नमः" ही है। कथा का रस चला जायगा।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी, आप बार-बार यह क्यों कहा करते हैं—सावधानी से सुनो, दत्त-चित्त होकर सुनो,

मन लगा कर सुनो, चित्त को चंचल मत होने देना। हम सब तो कितनी सावधानी से सुनते हैं, फिर भी आप वार-बार टोकते रहते हैं, चेतावनी देते रहते हैं—यह क्या बात है ?"

यह सुनकर सूतजी खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—"क्या बताऊँ महाराज ! मेरी ऐसी टेव पड़ गई है। आप इसका यह अर्थ न समझें कि आप सावधान होकर नहीं सुनते, यदि आप असावधानी करते तो मैं सुनाता ही नहीं। फिर भी जो मैं यह चेतावनी देता हूँ—अपनी लत से, आदत से विवश होकर कह देता हूँ। कथावाचकों का कोई एक विशिष्ट शब्द होता है, उसे वे बार-बार दुहराते हैं। कोई कहते हैं—"समझे ? कोई कहते हैं "क्या समझे ?" कोई कहते हैं—"क्यों ठीक है न ?" कोई कहते हैं—"कहो कैसी कही ?" कोई-कोई कहते हैं—"तुम्हारा रामजी भला करें !" कोई, श्रीसीतारामजी की इच्छा से ! श्री गोपालजी की इच्छा से !! श्रीजी की इच्छा !!! इसी प्रकार मेरा भी यह पादमूर्ति वाला विशिष्ट शब्द है। हाँ—तो अब मैं वृत्रासुर के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप सब सावधानी के साथ स्वस्थ चित्त से सरसता-पूर्वक सुनने की कृपा करें।"

छप्पय

यह अति सुखद पवित्र-चरित शिक्षाप्रद भारी।
पढ़ें सुनें नर-नारि होहिँ ते अवसि सुखारी॥
मुनि-दधीचि को त्याग वृत्र की भक्ति अनूठी।
ये ही द्वै हैं सार और जग-चर्चा झूठी॥
शौनक बोले—सूत ! कस, वृत्र असुर देही लही।
सूत कहें—शुक ने कथा, नृपति प्रश्न पै सब कही॥

वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

[४१८]

आसीद् राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृपः ।
चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत्कामधुङ्मही ॥
तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन् ।
सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १४ अ०, १०, ११ श्लो०)

छप्पय

कहैं परीक्षित प्रभो ! वृत्र को पूर्व जनम महँ ।
कस अस हरिपद भक्ति रह्यो कस अटल धरम महँ ॥
शुक बोले—सुनु, भूप ! नृपति इक चित्रकेतु वर ।
शूरसेन को ईश साधुसेवी सुठि सुन्दर ॥
विद्या रूप उदारता, सम्पति सब अगनित भरी ।
नृप की रानी दस-अयुत, हती कुलवती सुन्दरी ॥

पूर्व संस्कार, मनुष्य के साथ उसी प्रकार चिपटे रहते हैं,

---

* श्रीशुकदेवजी, वृत्रासुर के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त बताते हुए कहते हैं—"राजन् ! शूरसेन देश में एक चित्रकेतु नाम का सार्वभौम राजा रहता था। उसके राज्य में पृथ्वी, कामधेनु के समान सभी इच्छित पदार्थों को देने वाली थी। यद्यपि वे, निर्वीर्य नहीं थे—सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ थे और उनके हजारों रानियाँ थीं, फिर भी उनके कोई सन्तान नहीं थी।"

जिस प्रकार गर्भ का बालक 'जरा' नामक झिल्ली से लिपटा रहता है। किसी देश की, किसी वर्ण की, किसी जाति की स्त्री के गर्भ से बालक हो–जरा से लिपटा ही पैदा होगा। इसी प्रकार जीव चाहे जिस योनि में जाय, पूर्व-कृत पाप-पुण्य उसके साथ ही सटे रहेंगे। बिना पुनर्जन्म को माने संसार को जन्म-जात विषमताओं का किसी प्रकार समाधान हो ही नहीं सकता। पूर्वजन्म में जिसे हमने दुख दिया होगा वही आकर–अकारण ही–हमें पीड़ा पहुँचावेगा। कितने पक्षी उड़े जा रहे हैं, उनमें से एक-दो को ही बाज क्यों मारता है? शेष क्यों बच जाते हैं। एक घर में बहुत से चूहे हैं, उनमें से बिल्ली एक ही दो को क्यों पकड़ती है? बहुत से पकड़ लेने पर भी क्यों भाग जाते हैं! एक साथ बहुत आदमी रहते हैं, उनमें से एक-दो के ही साथ हमारा प्रेम क्यों होता है। शेष, समीप रहते हुए भी हमारे लिये उपेक्षणीय क्यों बने रहते हैं? एक कन्या-पाठशाला में सैकड़ों कन्यायें शिक्षा पाती हैं, विष्णु मित्र का विवाह शीला के साथ ही क्यों होता है? अन्य कन्याओं को वह देखते हुए भी क्यों नहीं देखता। उसका मन शीला ही की ओर अत्यधिक-आकर्षित क्यों होता है? आप कहेंगे कि यह तो आकस्मिक घटना है, संयोग की बात है। इसके उत्तर में हम कहेंगे, संसार में कोई कार्य कारण के बिना नहीं होता, अकस्मात तो कुछ होता ही नहीं। संयोग भी दैवेच्छा से पूर्व जन्मकृत कर्मों के अनुसार ही होता है। पूर्वजन्म में हमारा जो कोई कुछ रहा होगा, वही इस जन्म में हमें इस रूप में सुख-दुःख देने आया हुआ है।

वृत्रासुर के वृत्तान्त को सुनकर और उसकी भगवद्भक्ति तथा श्रीकृष्ण पाद-पद्मों में अनन्य अनुरक्ति को स्मरण करके महाराज परीक्षित् श्रीशुक से पूछने लगे—"भगवन्! यह तो बड़े ही आश्चर्य की-सी बात मालूम पड़ती है, घोर रजोगुणी तमोगुणी

वृत्रासुर को प्रभुपाद-पद्मों में ऐसी अचल प्रीति किस प्रकार हुई। कैसे वह भयङ्कर संग्राम में निश्चल भाव से भगवान् की स्तुति करता रहा उस इतने उग्र-स्वभाव के असुर की सहसा मुक्ति किस प्रकार हो गई ?"

इस बात को सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"क्यों महाराज ! मुक्ति का या भगवद्भक्ति का किसी ने ठेका ले रखा है क्या ?"

इस पर महाराज परीक्षित् शीघ्रता से बोले—"नहीं भगवन्, ठेका की बात नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि अपवाद तो सभी में होते हैं। किन्तु प्रायः करके शुद्ध, सतोगुणी, पवित्राचरण करने वाले पुरुषों के हृदय में ही भगवद्भक्ति का संचार होता है। सभी सतोगुणी भगवद्भक्त होते हैं, सो भी बात नहीं। बहुत से सतोगुणी देवताओं में और पवित्र चित्त वाले ऋषि-मुनियों तक के हृदयों में भगवान् के पादपद्मों में प्रीति उत्पन्न नहीं होती। फिर इस महापापी-वृत्रासुर के हृदय में इतना प्रगाढ़-प्रभु प्रेम कैसे प्रकट हो गया ?"

इस पर श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! आप ऐसी बात क्यों कर रहे हैं। भगवान् के हाथों से जो भी क्रूर पापी दुष्ट चित्त वाले असुर मरे हैं, वे सबके सब मुक्त हो गये हैं। फिर वृत्रासुर, भगवान् के तेजयुक्त वज्र से मर कर मुक्त हो गया तो इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात हुई ?"

इस पर महाराज परीक्षित् बोले—"भगवन् ! मुक्ति हो जाना तो दूसरी बात है। मुक्ति को मैं उतनी कठिन नहीं मानता जितनी कि भक्ति को। मुक्ति तो बहुतों को हो जाती है, प्रायः बहुत से असुर राक्षस भी मुक्त हो जाते हैं किन्तु भक्ति तो किसी विशेष ही भाग्यशाली को प्राप्त होती है।"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन् ! मुक्ति को

क्या आपने गुड़ का पुआ समझ रखा है जो गप्पसे मुँह में डाला और निगल गये। मुक्ति को आप सुलभ कैसे बता रहे हैं ?"

शीघ्रता से महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं-नहीं भगवन्! मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि मुक्ति सुलभ है। मुक्ति का मार्ग तो छुरे की धार की भाँति तीक्ष्ण है। इस जगत् में मुक्ति के ही लिये तो समस्त जीवों के प्रयत्न हैं। कोई रोग की मुक्ति के लिये, कोई दुख की मुक्ति के लिये, कोई कामवासना से मुक्ति के लिये, कोई भूख से मुक्ति पाने के लिये, कोई जाड़े-गरमी से मुक्ति पाने के लिये, कोई कलह से मुक्ति पाने के लिये, कोई 'पुं' नामक नरक से मुक्ति पाने के लिये, इस प्रकार सभी किसी न किसी अभाव की पूर्ति के लिये सतत-प्रयत्न कर रहे हैं। संसार में असंख्य जीव हैं। पृथ्वी के समस्त-कणों की संख्या तो सम्भव है गणना की भी जा सके, किन्तु संसार के समस्त जीवों की गणना करना असम्भव है। उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज (इस प्रकार जीवों के ४ भेद बताये हैं, इन चारों की ८४ लाख) योनियाँ बताई हैं। एक योनि में असंख्यों जीव इस ब्रह्माण्ड में है। यह चौदह भुवनों वाला एक ही ब्रह्मांड हो सो भी बात नहीं, ऐसे असंख्यों-ब्रह्माण्ड हैं। उन सभी में पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मुनि, प्रजापति आदि बताये गये हैं। इन इतनी योनियों में से मनुष्य आदि कुछ ही ऐसी योनियाँ हैं जो इस संसार-सागर से पार जाने की बात सोच सकते हैं। उन सोचने वालों में से कुछ ही लोग मुक्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। उन प्रयत्न करने वालों में भी प्रबल इच्छा वाले कम ही होते हैं। सभी प्रबल इच्छा वाले मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाते हों, सो भी बात नहीं। उनमें कोई भाग्यशाली ही सिद्धि लाभ करके मोक्ष के अधिकारी होते हैं। उन करोड़ों जीवन्मुक्त तथा सिद्ध पुरुषों में से कोई बिरले ही शांतचित्त, नारायण-परा-

यण महापुरुष होते हैं। भगवत्परायणता कोई सरल नहीं। यह बात नहीं जो भी वेष बना ले—माला खटका ले, वही प्रभु-परायण हो जाय। आप कह रहे हैं—वृत्रासुर नारायण-परायण था, संग्राम में भी उसकी भगवान् के चरणारविन्दों में दृढ़ मति बनी रही सो यह कैसे हुआ ? इस विषय में मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। वृत्रासुर साधारण वीर भी नहीं था, युद्ध में उसने देवताओं के छक्के छुड़ा दिये। अपने पुरुषार्थ से उसने रण में इन्द्र को भी 'सन्तुष्ट' कर दिया। यह सब किस प्रकार हुआ ?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन् ! यह सब पूर्व-जन्मों के संस्कार से होता है।"

इस पर राजा बोले—"इसी बात के सुनने की भगवन् ! मेरी इच्छा है। मैं जानना चाहता हूँ, यह वृत्रासुर पूर्व-जन्म में कौन था ? किस प्रकार इसका भगवान् में अनुराग हुआ, फिर इतना भगवद्भक्त होकर यह असुर योनि में क्यों उत्पन्न हुआ ? आप सर्वज्ञ हैं भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सब बातें जानते हैं, अतः मुझे इन सब बातों को सुनाने की कृपा कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार पूछा तो मेरे गुरुदेव—भगवान् व्यासनन्दन—श्रीशुकजी उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन् ! इसमें सर्वज्ञता की तो कोई बात नहीं। यह तो बहुत प्राचीन और बहुत ही इतिहास-प्रसिद्ध वृत्तान्त है। मैंने पहिले तो इसे अपने पिता भगवान्-व्यास के मुख से सुना था। एक बार मुझे देवल-मुनि मिल गये, उनसे भी यों ही बात-चात में पुनर्जन्म का प्रसंग छिड़ गया—तो उन्होंने भी इसी इतिहास को मुझे सुनाया। फिर एक बार मेरी देवर्षि-नारदजी से भेंट हो गई, मैंने उनसे प्रश्न किया कि 'भगवान् की भक्ति किन लोगों के हृदय में उत्पन्न होती है ?' इसके उत्तर

क्या आपने गुड़ का पुआ समझ रखा है जो गप्पसे मुँह में डाला और निगल गये। मुक्ति को आप सुलभ कैसे बता रहे हैं ?"

शीघ्रता से महाराज परीक्षित् बोले—"नहीं-नहीं भगवन् ! मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि मुक्ति सुलभ है। मुक्ति का मार्ग तो छुरे की धार की भाँति तीक्ष्ण है। इस जगत् में मुक्ति के ही लिये तो समस्त जीवों के प्रयत्न हैं। कोई रोग की मुक्ति के लिये, कोई दुख की मुक्ति के लिये, कोई कामवासना से मुक्ति के लिये, कोई भूख से मुक्ति पाने के लिये, कोई जाड़े–गरमी से मुक्ति पाने के लिये, कोई कलह से मुक्ति पाने के लिये, कोई 'पुं' नामक नरक से मुक्ति पाने के लिये, इस प्रकार सभी किसी न किसी अभाव की पूर्ति के लिये सतत-प्रयत्न कर रहे हैं। संसार में असंख्य जीव हैं। पृथ्वी के समस्त–कणों की संख्या तो सम्भव है गणना की भी जा सके, किन्तु संसार के समस्त जीवों की गणना करना असम्भव है। उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज (इस प्रकार जीवों के ४ भेद बताये हैं, इन चारों की ८४ लाख) योनियाँ बताई हैं। एक योनि में असंख्यों जीव इस ब्रह्माण्ड में है। यह चौदह भुवनों वाला एक ही ब्रह्मांड हो सो भी बात नहीं, ऐसे असंख्यों–ब्रह्माण्ड हैं। उन सभी में पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मुनि, प्रजापति आदि बताये गये हैं। इन इतनी योनियों में से मनुष्य आदि कुछ ही ऐसी योनियाँ हैं जो इस संसार-सागर से पार जाने की बात सोच सकते हैं। उन सोचने वालों में से कुछ ही लोग मुक्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। उन प्रयत्न करने वालों में भी प्रबल इच्छा वाले कम ही होते हैं। सभी प्रबल इच्छा वाले मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाते हों, सो भी बात नहीं। उनमें कोई भाग्यशाली ही सिद्धि लाभ करके मोक्ष के अधिकारी होते हैं। उन करोड़ों जीवन्मुक्त तथा सिद्ध पुरुषों में से कोई बिरले ही शांतचित्त, नारायण-परा-

यण महापुरुष होते हैं। भगवत्परायणता कोई सरल नहीं। यह बात नहीं जो भी वेष बना ले—माला खटका ले, वही प्रभु-परायण हो जाय। आप कह रहे हैं—वृत्रासुर नारायण-परायण था, संग्राम में भी उसकी भगवान् के चरणारविन्दों में दृढ़ मति बनी रही सो यह कैसे हुआ? इस विषय में मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। वृत्रासुर साधारण वीर भी नहीं था, युद्ध में उसने देवताओं के छक्के छुड़ा दिये। अपने पुरुषार्थ से उसने रण में इन्द्र को भी 'सन्तुष्ट' कर दिया। यह सब किस प्रकार हुआ?"

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी बोले—"राजन्! यह सब पूर्व-जन्मों के संस्कार से होता है।"

इस पर राजा बोले—"इसी बात के सुनने की भगवन्! मेरी इच्छा है। मैं जानना चाहता हूँ, यह वृत्रासुर पूर्व-जन्म में कौन था? किस प्रकार इसका भगवान् में अनुराग हुआ, फिर इतना भगवद्भक्त होकर यह असुर योनि में क्यों उत्पन्न हुआ? आप सर्वज्ञ हैं भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सब बातें जानते हैं, अतः मुझे इन सब बातों को सुनाने की कृपा कीजिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार पूछा तो मेरे गुरुदेव—भगवान् व्यासनन्दन—श्रीशुकजी उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे।"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—"राजन्! इसमें सर्वज्ञता की तो कोई बात नहीं। यह तो बहुत प्राचीन और बहुत ही इतिहास-प्रसिद्ध वृत्तान्त है। मैंने पहिले तो इसे अपने पिता भगवान्-व्यास के मुख से सुना था। एक बार मुझे देवल-मुनि मिल गये, उनसे भी यों ही बात-बात में पुनर्जन्म का प्रसंग छिड़ गया—तो उन्होंने भी इसी इतिहास को मुझे सुनाया। फिर एक बार मेरी देवर्षि-नारदजी से भेंट हो गई, मैंने उनसे प्रश्न किया कि 'भगवान् की भक्ति किन लोगों के हृदय में उत्पन्न होती है?' इसके उत्तर

में इन्होंने कहा—"भगवान् कब किस पर कृपा कर दें; इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं। देखो—वृत्र कितना बली-पराक्रमी और देवताओं को भयभीत करने वाला असुर था, परन्तु उसकी भी भगवान् में अहैतुकी-भक्ति थी।" इसी प्रसंग में उन्होंने भी मुझे वृत्रासुर के पूर्वजन्म का वृतान्त सुनाया।"

यह सुनकर राजा बोले—"तब तो महाराज! यह बड़ा-प्राचीन और प्रामाणिक-इतिहास है। इतने बड़े-बड़े महर्षि प्रमाण-भूत मानकर इसका कथन करते हैं। तब तो आप इसे मुझे अवश्य सुनावें।"

इस पर हँसते हुए श्रीशुक कहने लगे—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये। मैं आपको इस परम-पुण्यमयी कथा को सुनाता हूँ।

बहुत प्राचीन समय की बात है, कि शूरसेन-देश में एक बड़े ही प्रतापी-राजा राज्य करते थे। महाराज! श्रीयमुनाजी के किनारे पर जहाँ आजकल श्रीबटेश्वर-शिवजी विराजमान हैं; इसी के आस-पास के प्रान्त को शूरसेन-देश कहते हैं। उन धर्मात्मा-राजा का नाम चित्रकेतु था। उनके पुण्य के प्रभाव से उन दिनों यह पृथ्वी, कामधेनु के समान सभी इष्ट वस्तुओं को संकल्प मात्र से ही देती थी। राजन्! जब मनुष्यों में अविश्वास बढ़ जाता है, अधर्म का प्राबल्य हो जाता है; तो यही भूमि समस्त वस्तु को अपने भीतर छिपा लेती हैं। अच्छी-अच्छी वस्तुओं के बीजों को उत्पन्न ही नहीं करती। प्रभावशाली-औषधियों को निकालती ही नहीं। दुष्ट-राजाओं के कारण यह निर्बीज बन जाती है। यदि इस पर धर्मात्मा-राजा होते हैं, तो बिना जोते-बोये जो चाहें वही देती है। स्थान-स्थान पर हीरा-मोती निकलते हैं। उन महाराज-चित्रकेतु के राज्य में ऐसा ही था। किसी को किसी वस्तु की

कमी नहीं होती थी। अन्न-वस्त्र सभी को पृथ्वी यथेष्ट उत्पन्न कर देती थी।

राजा बड़े रूपवान थे, कामदेव के समान उनका सुन्दर शरीर था। बड़े ही उदार थे, उनसे जो भी आकर जिस वस्तु की याचना करता वे उसे उसी वस्तु को आदर और प्रसन्नता के साथ देते। कभी किसी की आशा को भंग करके विमुख नहीं जाने देते। वे वंश-परम्परा के राजा थे, सत्कुल में उनका जन्म हुआ था। पिता-पितामह तथा प्रपितामहों से चले आये हुए राज्य के वे अधिकारी थे। प्रायः राजा बहुत पढ़ने-लिखने नहीं पाते, उनमें यह बात नहीं थी, वे सभी विद्याओं में पारंगत थे। उनका अतुलनीय-ऐश्वर्य था। उनकी अटूट-सम्पत्ति थी जिसकी कोई सीमा नहीं थी। सारांश यह कि, उनमें सभी सद्-गुण विद्यमान् थे। यथासमय उन्होंने एक सत्कुलोत्पन्ना सुन्दरी-राजकुमारी से विवाह किया। राजा सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ थे किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई। फिर राजा ने दूसरा विवाह किया, उससे भी कोई सन्तति नहीं हुई। इसी प्रकार तीसरा, चौथा, ऐसे लाखों-विवाह किये; किन्तु किसी भी रानी से उनके सन्तान नहीं हुई।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! एक पुरुष लाख करोड़ पत्नियों का पति कैसे हो सकता है? यह तो हमें गप्प-सी मालूम पड़ती है।"

इस पर उपेक्षा के स्वर में सूतजी बोले—"महाभाग! यहाँ लाख-करोड़ कहने से इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये कि, उनके बहुत-सी रानियाँ थीं। शत, सहस्र, लक्ष, अयुत ये सब बहुवाचक-शब्द हैं। महाराज! सामर्थ्यवान्-पुरुषों के लिये हजार-विवाह करना कोई बड़ी बात नहीं। इस कलियुग में अभी हमने एक-एक राजा के सौ-सौ दो-दो-सौ पत्नियाँ अपनी

आँखों से देखी हैं। हाँ, तो उनके भी बहुत-सी सुन्दरी—सत्कुलोत्पन्ना-महिषियाँ थीं, किन्तु थीं-सबकी-सब वन्ध्या ही। किसी एक के भी न कोई पुत्र हुआ न पुत्री।"

राजा को सभी प्रकार का सुख था। स्वयं सभी गुणों से सम्पन्न थे। समस्त पृथ्वी-मंडल के सार्वभौम-राजा थे, सर्वत्र उनकी आज्ञा मानी जाती थी। मन्त्री, पुरोहित, आमात्य तथा अन्य राज-कर्मचारी उनके अनुकूल थे। प्रजा उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी, वे भी पुत्र की तरह सबका धर्म-पूर्वक पालन करते थे। इस भाँति सभी प्रकार की समृद्धियों के रहते हुए भी बिना संतति उन्हें सुख नहीं था। ये सभी भोग उन्हें फीके-फीके से प्रतीत होते थे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गृहस्थी की शोभा बाल-बच्चों से ही है। वे बड़े भाग्यशाली-गृहस्थ हैं; जिनके घर में छोटे-छोटे फूल से हँसते हुए बाल-गोपाल इधर से उधर किलकारियाँ मारते हुए घूमते हैं। जैसे कमल के बिना सरोवर की शोभा नहीं, जैसे पति के बिना स्त्री की शोभा नहीं, जैसे सिन्दूर के बिना सुहागिन की शोभा नहीं, जैसे छत्र-चँवर के बिना राजा की शोभा नहीं, जैसे विद्या बिना ब्राह्मण की शोभा नहीं, जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं, जैसे दीपक के बिना अँधेरे-घर की शोभा नहीं—इसी प्रकार बिना बालक के गृहस्थी की शोभा नहीं होती। जिनके धन-सम्पत्ति अटूट है और घर में उसे आगे भोगने वाला कोई पुत्र नहीं तो उन्हें या तो भगवान् को अपना पुत्र मानकर रात्रि-दिन उसी के लाड़चाव में लगे रहना चाहिये या धन को धर्म के काम में व्यय करके बन में चले जाना चहिये। जो दो में से एक भी नहीं करता—धन को संग्रह करके, जोड़कर रखता जाता है—न स्वयं खाता है न दूसरों को खाने को देता है, तो वह जीते जी नरक भोगता है तथा मरकर भी प्रेत बनकर

उसी धन पर मँडराता रहता है और अन्त में नरकों की अग्नि में पचता है। पुत्र के बिना गति नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं।"

महाराज चित्रकेतु ने पुत्र प्राप्ति के लिये विविध-उपाय किये। जिसने जो कुछ भी दान, धर्म-व्रत, उपवास बताये—सब किये-कराये। किन्तु उन्हें पुत्र का मुख देखने का सौभाग्या प्राप्त नहीं हुआ। इसी से राजा सदा उदास बने रहते थे। उनका किसी काम में मन नहीं लगता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप ही अच्छे हैं; जो इन स्त्री-बच्चों के झंझट में आरम्भ से ही नहीं पड़े। महाराज! क्या बतावें—यह कैसा चक्कर है कि इसमें जो फँस जाता है भगवान् ही निकालें तो निकल सकता है। पुत्र न होने पर जो दुख होता है, उसे आप लोग बिना घर-द्वार वाले-बाबाजी क्या समझ सकते हैं। अतः उसका मैं अधिक वर्णन आपके सामने नहीं कर सकता। कहूँ भी तो व्यर्थ है। तीन चार वर्ष की लड़की के सम्मुख ससुराल के सुख का कितना भी वर्णन करो—वह समझ ही नहीं सकती। सो मुनियो! अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त करके आगे की रोचक कथा सुनाता हूँ।"

छप्पय

किन्तु न तिनके पुत्र हतीं सब वन्ध्या-रानी।
यातें नृप के चित्त माहिँ नित रहे गलानी॥
सब मुख विषवत् लगैं, भार सम शासन लागत।
निसि दिन चिन्ता रहे, भूपकूँ सोवत-जागत॥
दान, धर्म, व्रत, नियम, जप, करैं पुत्र हित बहु नृपति।
किन्तु न संतति मुख लख्यो, तातैं चिन्तित भये अति॥

—:—

महाराज चित्रकेतु के महल में अङ्गिरा मुनि का आगमन

[४१९]

तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः ।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद् यदृच्छया ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

एक दिना नृप भवन अङ्गिरा-मुनिवर आये ।
करि सेवा सत्कार कनक-आसन बैठाये ॥
पूछी मुनि कुशलात नृपति की नीति बताई ।
पुनि पूछे—नृप ! रह्यो कमलमुख च्यौं मुरझाई ॥
चित्रकेतु बोले विभो !, कहूँ कहा प्रभु विज्ञ हैं ।
तप! समाधि अरु योग तें, आप नाथ सर्वज्ञ हैं ॥

संसार में सभी वस्तु सुलभ है, किन्तु सन्त समागम, सत्संग ही एकमात्र दुर्लभ-वस्तु है । संसार में वे लोग धन्य हैं, जिन पर किसी साधु-संत की कृपा है। इस गृहस्थी रूपी अंधकूप में निरंतर दुख ही दुख है । यह विपत्तियों का भण्डार और चिन्ताओं का

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन राजा चित्रकेतु के महल में एक दिन दैवयोग से सभी लोकों में विचरते हुए भगवान्-अंगिरा-ऋषि आ पहुँचे ।"

घर है। नित्य ही नई चिन्तायें लगी रहती हैं। आज यह वस्तु नहीं आज इसका अभाव है, आज यह टूट गई तो आज यह मलिन हो गयी है, कल वहाँ जाना है, आज यह लाना है। आज स्त्री बीमार तो कल बच्चे का ही स्वास्थ्य गड़बड़ है। आज स्वयं भूख नहीं लगती—ज्वर हो आया है, सिर में पीड़ा हो रही है। सारांश कोइ क्षण ऐसा नहीं बीतता जिसमें कोई चिन्ता न लगी हुई हो। वही समय सार्थक है जिस समय घर में साधु-संत आ जायें। महात्माओंके सत्संग में जो क्षण बीत जायँ वे ही अमूल्य हैं, वे ही सार्थक हैं—सुखमय हैं। शेष तो दुख ही दुख है।

साधु संग, बड़े सौभाग्य से पूर्वजन्मों के महान् पुण्यों से प्राप्त होता है। वे गृहस्थी परमभाग्यशाली हैं जिनके घर कभी-कभी संत आया करते हैं—जिनका आँगन, सन्तों की पदधूलि से पवित्र हो गया है—जिनके घर में महात्माओं के पैरों का धुला हुआ जल पड़ गया है और जिन्हें साधु-सेवा करने का सुयोग प्राप्त हो गया है। साधु सबके घर नहीं जाते, किसी-किसी भाग्यशाली के घर को ही वे पावन बनाते हैं। किसी सुकृति को ही वे सेवा का सुअवसर प्रदान करते हैं।

शास्त्रकारों ने साधु-सेवा को भगवत्-सेवा से भी बढ़कर बताया है। भगवान् की सेवा में तो केवल भगवान् की ही अर्चना होती है, किन्तु भगवत्-भक्तकी सेवामें भक्त और भगवान्—दोनों की—सेवा हो जाती है। सौभाग्य से हमारे घर में सन्तों ने पदार्पण किया, अपने ही उनके लिए भोग बनाया। संत ऐसे तो हैं नहीं कि बनती गई और उड़ाते गये। वे पहिले भगवान् का भोग लगाते हैं तब प्रसाद पाते हैं। रसोई बनी तो भगवान् का भी भोग लगा और संतों ने भी प्रसाद पाया। इसीलिये भगवान् के भोग को महाप्रसाद कहते हैं और उस 'महाप्रसाद' को भक्त पाकर जो उच्छिष्ट छोड़ देते हैं, वह महा-महाप्रसाद कहलाता है।

इसी प्रकार हमने संतों के निमित्त माला बनाई। संत बिना भगवान् को चढ़ाये—बिना निर्माल्य बनाये तो धारण करते नहीं। पहिले माला भगवान् को चढ़ी तब संतों ने धारण किया, दोनों ही की सेवा हो गई। इसी प्रकार वस्त्र, चंदन, अनुलेपन सभी में समझना चाहिये। संत की सेवा से जितने भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, वैसे अपनी सेवा से सन्तुष्ट नहीं होते।

जिन भाग्यशालियों के घर संत निवास करते हैं, वे घर साधारण-घर नहीं रह जाते—वे तो तीर्थ-स्वरूप बन जाते हैं। संतों के जहाँ पैर पड़ गये, जहाँ उन्होंने भगवान की पूजा-अर्चा करली, जहाँ उन्होंने भगवान् के सुमधुर-नामों का कीर्तन और उनकी यश संबंधी कथा कह दी,वह भूमि तो परमदिव्य बन जाती है। संत ही इस पृथ्वी को पावन बनाये हुए हैं। देवता, ब्राह्मण, गऊ, संत और सती ये ही पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। इनके बिना संसार रह नहीं सकता। पहिले तो संत किसी भाग्यहीन-पापी के यहाँ जाते नहीं, यदि चले जावें तो उसका भाग्य बदल जायगा, वह पापात्मा से पुण्यात्मा बन जायगा। उसका बेड़ा पार लग जायगा, वह संसार-बन्धन से सदा के लिये निश्चय-ही छूट जायगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शूरसेनाधिप—महाराज-चित्रकेतु, संतति के बिना सदा उदास और चिंतित रहा करते थे, एक दिन दैवयोग से लोक-लोकों में घूमते-घामते भगवान्-अंगिरा-मुनि वहाँ आ पहुँचे। मुनिवर-अंगिरा को आते देखकर महाराज चित्रकेतु सहसा अपने आसन से उठ खड़े हुए। अत्यन्त ही श्रद्धा सहित मुनि का सत्कार किया, पुरोहित को बुलाकर विधिवत् उनकी पूजा की। पाद्य अर्घ्य आचमनीय और फल-फूल देकर मुनि को संतुष्ट किया। जब अतिथि का समुचित समस्त शिष्टाचार और सत्कार हो चुका तब मुनि बड़े

प्रसन्न हुए। खड़े हुए राजा को बैठ जाने की आज्ञा दी। मुनि की आज्ञा पाकर उनके समीप ही–नीचे आसन पर–हाथ जोड़े हुए राजा बैठ गये।"

राजा को विनय पूर्वक समीप बैठे देखकर मुनिवर-अङ्गिरा

उनकी कुशल पूछते हुए बोले—"राजन्! कहिये आप के राज में सब सुखी तो हैं? राजा स्वयं एक ब्रह्माण्ड होता है। जैसे ब्रह्मांड पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अहंतत्व एवं महत्तत्व इन सात आवरणों से सदा घिरा रहता है। उसी प्रकार राजा के भी स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र ये सात-आवरण बताये हैं। राजा इनके बिना रहता ही नहीं। इनसे वह निरन्तर घिरा रहता है, ये राजा के आवश्यक-अंग हैं। बताइये, आप इन सातों के सहित सुखपूर्वक तो हैं।"

हाथ जोड़कर राजा ने कहा—"भगवन्! यह सब तो आप की कृपा ही है, ये सभी प्रकृतिरूपा-आवरण तो मेरे अनुकूल ही हैं।"

इस पर अङ्गिरा-मुनि ने कहा—"जब आपकी ये सातों प्रकृतियाँ आप के अनुकूल हैं, तब तो आपको राज्य का पूर्ण-सुख होना चाहिये। आप को किसी प्रकार की चिन्ता न होनी चाहिये आपका मुख-कमल सदा खिला रहना चाहिये, किन्तु मैं देखता हूँ आपका मुख म्लान हो रहा है। आप का अन्तःकरण संतुष्ट नहीं है, चित्तमें प्रसन्नता नहीं, मुख की आकृति से कोई गहरी-वेदना स्पष्ट झलक रही है।"

"एक बात और भी है। स्वयं तो प्रकृतिके अनुकूल चले किन्तु उसके आश्रम में रहने वाले किसी कारण उसके अनुकूल न हो, विरुद्धाचरण करें तो भी कार्य नहीं बनता। इससे भी राजा की शान्ति में विघ्न पड़ता है। मैं पूछना चाहता हूँ—तुम्हारी रानियाँ तुम्हारे अनुकूल आचरण तो करती हैं न? उनमें किसी कारण से दुराचार का प्रवेश तो नहीं हो गया? आपकी प्रजा के लोग आप से हृदय से सन्तुष्ट हैं न? वे अराजकता तो नहीं फैलाते? आपकी आज्ञाओं का उल्लंघन तो नहीं करते? आपके अमात्य, राज्य का प्रबंध सुचारु-रीति से तो करते हैं—उनमें प्रजा

से अनुचित-द्रव्य ठगने की लत तो नहीं पड़ गई है ? आपके सेवक, धर्म समझकर श्रद्धा सहित तो सेवा करते हैं—वे केवल लोभ से, अनिच्छापूर्वक बे-मन से कार्य तो नहीं करते ? आपके राज्य के व्यापारी बहुत छल कपट तो नहीं करते ? आवश्यकता से अधिक झूठ बोलकर वस्तुओं को तेज तो नहीं बेचते, समय-समय पर वे आप को राज्य-कर तो देते रहते हैं ? आपके मन्त्री अच्छी-सम्मति तो सदा देते रहते हैं न ? ऐसा तो नहीं है कि वे आपके शत्रुओं से भीतर ही भीतर मिले हुए हों और आपको उलटी-पलटी बातें सुझाकर राज्यच्युत करना चाहते हों ? आपके पुरवासी आपके अनुकूल तो हैं, आप में उनकी श्रद्धा तो बनी हुई है ? नगर को छोड़कर और भी समस्त देशवासी आप में पूर्ण अनुराग तो रखते हैं ? आपकी सदा भलाई तो चाहते रहते हैं ? सभा में बैठने वाले आपके समस्त-गण आपके अधीन तो हैं, उनका भी आपके प्रति सहज-स्नेह तो बना रहता है ? आपके राजकुमार आपकी आज्ञाओं का पालन तो करते है और राज-काज में आपका हाथ तो बँटाते हैं ?"

राजकुमार शब्द सुनकर राजा की उदासीनता और भी बढ़ गई, वे दुखित चित्त से बोले—"प्रभो ! आपने जिन सबका नाम लिया है वे सब मेरे अनुकूल ही हैं। कोई भी विरुद्ध आचरण नहीं करता, सभी मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं।"

इस पर शीघ्रता के साथ मुनि बोले—"तब आप इतने चिन्तित और दुखी क्यों हैं ? राजा के दुख के कारण तो यही हो सकते हैं—किसी शत्रु ने चढ़ाई कर दी हो, कोई अपनी प्रजा का अंग विरुद्ध हो गया हो, राज्य में अकाल पड़ गया हो, दुर्भिक्ष हो गया हो, ये बातें आपके राज्य में हैं ही नहीं; फिर भी आप सुखी नहीं हैं—चिन्ताग्रस्त हैं, अतः आप मुझे अपने दुख का कारण

समझाइये, मुझे अपनी विपत्ति का बीज बताइये। प्रतीत होता है—आपको मानसिक व्यथा है, क्योंकि मन के दुखी होने से ही दुखी और मन के सुखी होने से ही मनुष्य सुखी होता है। जिसका मन अपने वश में है, उसके वश में सभी हो जाते हैं। देवता, लोकपाल तक उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, सदा उसके अनुकूल आचरण करते रहते हैं। अपने स्नेहियों, हितैषियों और शुभचिन्तकों के सम्मुख दुख प्रकट करने से वह बँट जाता है—चित्त हलका हो जाता है, अतः तुम मेरे सम्मुख अपने दुख का कारण बताओ।"

शुकदेवजी कहते हैं—"हे उत्तरानन्दन! मुनि तो त्रिकालज्ञ थे, उनसे कौन-सी बात अविदित थी, फिर भी बात चलाने के निमित्त मुनि ने राजा से इस प्रकार के प्रश्न किये।"

भगवान्-अंगिरा-मुनि के पूछने पर हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीत-भाव से लजाते हुए—अपने अंगों को अपने आप में ही छिपाते हुए—राजा उनसे बोले—"भगवन्! आप मुझसे ये सब बातें इस प्रकार पूछ रहे हैं—मानों कुछ आप जानते ही नहीं। जैसे साधारण लोग प्रश्न करते हैं उसी प्रकार आप मुझसे पूछ रहे हैं। प्रभो! जिनकी पाप वासनायें सर्वथा नष्ट हो गई हैं उन योगीश्वरों को प्राणियों के बाहर-भीतर रहने वाली ऐसी कौन-सी वस्तु है—जिसे वे अपने तप ज्ञान और समाधि के प्रभाव से न जानते हों। आप सर्वज्ञ हैं। भूत भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों की बातों को हाथ में रखे आँवले की भाँति देखते हैं। फिर भी आप मुझसे मेरी मानसिक व्यथा का कारण पूछते हैं तो इसमें मुझे आपके त्रिकालज्ञ होने में सन्देह नहीं होता, मैं समझता हूँ आप मेरे ही मुख से कहलवाना चाहते हैं। अतः आपके संशय को दूर करने के अभिप्राय से नहीं, आपकी आज्ञा समझकर ही मैं बताता हूँ। आपसे कुछ छिपा तो है नहीं, किन्तु

आप मुझे प्रेरित कर रहे हैं आज्ञा दे रहे हैं, उसका उल्लङ्घन भी कैसे करूँ ?"

"मुनिवर ! मेरे यहाँ सभी प्रकार के सुख हैं। मुझे किसी के द्वारा कोई कष्ट नहीं। प्रजा, पुरोहित, आमात्य, मन्त्री सभी मेरे अनुकूल हैं। मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं जो तत्क्षण पूरी न होती हो। किन्तु प्रभो ! इतना सब होने पर भी मुझे सुख नहीं, शान्ति नहीं, ये सब सम्पत्तियाँ मुझे उसी प्रकार काटने दौड़ती हैं जैसे भूख-प्यास से व्याकुल पुरुष को अन्न जल के अतिरिक्त सभी विषय भोग दुखद प्रतीत होते हैं। भूखे को अन्न न देकर उसे मालायें पहिनाओं, सुन्दर शैया पर सुलाओ, पङ्खा करो, चन्दन लगाओ, तैल मर्दन करो, सुगन्धित द्रव्य लगाओ यद्यपि ये सब सुख देने वाली वस्तुएँ हैं किन्तु क्या इनसे उसे सुख होगा। युवती पत्नी है, पति उसके भोजन वस्त्र का यथेष्ट प्रबन्ध करता है, भोग की सभी सामग्री अत्यधिक मात्रा में देता है, सहस्रों सेविकायें लगा रखी हैं, किन्तु पति उसके समीप जाता ही नहीं उसे दर्शन तक नहीं देता तो क्या ये सब सुखोपभोग की वस्तुएँ उसे प्रसन्न कर सकेंगी। इसी प्रकार भगवन् ! मेरे यहाँ सब सामग्रियाँ हैं, किन्तु पुत्र के बिना सभी फीकी हैं। सन्तान के बिना ये अमृतोपम विषय विष के समान मुझे प्रतीत होते हैं।"

इस पर मुनि ने पूछा—"तुम्हारे कितनी रानियाँ हैं ?"

राजा ने दुखित होकर कहा—"महाराज ! रानियों की संख्या न पूछें असंख्यों हैं, किन्तु मेरा ऐसा भाग्य खोटा है, बड़ी खोज से एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे अनेकों विवाह किये, किन्तु सबकी सब बाँझ निकल गईं। किसी के भी पुत्र नहीं हुआ। यदि आपको मेरे ऊपर कृपा है, यदि आप मुझे अपना सेवक समझकर सुखी बनाना चाहते हैं, तो मुझे अधिक नहीं कम से कम एक पुत्र तो देवें ही।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज चित्रकेतु की यह बात सुनकर मुनि कुछ सोच में पड़ गये और इस राजा का कल्याण कैसे हो इसका विचार करने लगे।"

छप्पय

निष्कल्मष हैं सन्त आचरण तम नाहिँ तिनिकूँ।
भूत भविष्यत वर्तमान दीखे सब उनकूँ॥
बड़भागी ते गृही सन्त जिनके घर आवें।
करि पूजा स्वीकार विष्णु परसादी पावें॥
होहिँ दुरित दुख दूर सब, करें कृपा यदि ते कहीं।
घट-घट की जानत सकल, अविदित तिनकूँ कुछ नहीं॥

महाराज की मुनि से सन्तान याचना

[४२०]

लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः ।
न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्कामामिवापरे ॥
ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः ।
यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० २५, २६ श्लोक)

छप्पय

तोऊ आज्ञा मानि दुःख को हेतु बताऊँ ।
प्रजानाथ सम्राट जनेश्वर हौं कहलाऊँ ॥
सब सुख मेरे यहाँ किन्तु सुत एक न स्वामी ।
ताइ तें अति दुखी रहूँ सुनि अन्तर्यामी ॥
प्रभु सर्वज्ञ समर्थ हो, कृपा कृपानिधि करो तुम ।
देउ एक सुत मनोहर, बने लोक परलोक मम ॥

गृहस्थियों के यहाँ स्वार्थी लोग जाते हैं, क्यों कि वे सदा स्वार्थ में ही संलग्न रहते हैं। जैसी प्रकृति का मनुष्य होगा, उसका वैसे ही लोगों से सम्बन्ध और संसर्ग रहेगा। किसी

---

* महाराज चित्रकेतु अङ्गिरा मुनि से कह रहे हैं—"मुनिवर ! मेरा साम्राज्य ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति इतनी है कि लोकपाल भी इच्छा करते हैं, किन्तु वह भी मुझ पुत्र हीन को इसी प्रकार प्रसन्न नहीं कर सकती, जिस प्रकार भूख-प्यास से व्याकुल व्यक्ति को माला चन्दन

भाग्यशाली, पुण्यात्मा, सुकृति पुरुष के यहाँ यथार्थ में सन्त कृपा करते हैं। उसकी सेवा को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया करते हैं। सन्तों के दर्शनों से पातक दूर होते हैं। सन्तों का दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता, वह अमोघ होता है। सन्तों से संसार में आज तक किसी का भी अनिष्ट नहीं हुआ है। वे अकारण अपकार करने वालों पर भी कृपा करते हैं, द्वेष करने वालों से भी प्रेम करते हैं, निन्दा करने वालों का भी आदर करते हैं। वे जैसा अधिकारी देखते हैं वैसा ही उपदेश देते हैं। अति अधिकारी के दुख को दूर करके उसे परमार्थ की ओर लगाते हैं। अर्थार्थी को अर्थ देकर उससे अन्तर्विराग कराते हैं। मुमुक्षु को मोक्ष का माग बताकर उसे ज्ञान के सुखद सोपानों से ऊपर चढ़ाते हैं। ज्ञानी को भगवद्भक्ति का प्रभु प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं और भक्तों को हरि-कथा सुनाकर सुख देते हैं। उनसे कभी किसी का न तो अहित हुआ और न कभी किसी का अनिष्ट होगा ही। सन्तों का रोम-रोम परोपकार के लिये होता है, उसको स्वांस-स्वांस से कृष्ण नाम का उच्चारण होता है। वे परकार्यों को साधने के कारण ही सन्त कहाते हैं।',

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब राजा चित्रकेतु ने मुनि से पुत्र देने की प्रार्थना की तो मुनि ने कहा—"राजन् ! सब वस्तुएँ भाग्य से प्राप्त होती हैं। मालूम होता है आपके भाग्य में पुत्र सुख बदा नहीं है, तभी तो इतनी रानियों के होते हुए भी किसी एक के भी सन्तान नहीं हुई। इसलिये आप भगवान् का भजन करें, इस पुत्र-पौत्र की मोह-ममता को छोड़ दें।"

आदि भोग सुखी नहीं कर सकते। हे महाभाग ! पुत्र के बिना अपने पूर्वज-पितरों के सहित नरक में जा रहा हूँ, आप मेरी नरक से रक्षा करें। आप कोई ऐसा उपाय करें कि परलोक में 'पुं' नामक नरक को पुत्र पाकर पार कर जाऊं।"

राजा का मन तो पुत्र में लगा हुआ था, उस समय उसके मन में तो पुत्र की ही कामना थी, अतः वह हाथ जोड़कर मुनि से बोले—"प्रभो ! इस समय मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। विना पुत्र उत्पन्न हुए मुझे कभी भी शान्ति न होगी, न मेरा भगवान् में चित्त ही लगेगा। मुझे तो जैसे भी हो पुत्र दीजिये। रही भाग्य की बात, तो सन्त तो विधि के लेख पर भी मेख मार सकते हैं। भाग्य को भी उलट सकते हैं। प्रारब्ध को भी अन्यथा करते हैं; सन्तों में बड़ी सामर्थ्य होती है। मैंने इस सम्बन्ध में संतों के ही मुख से एक कहानी सुनी है, आज्ञा हो तो उसे सुनाऊँ ?"

यह सुनकर अंगिरा मुनि बोले—"राजन् ! सन्तों की महिमा वाले इतिहास को आप अवश्य सुनावें। क्योंकि संसार में दो ही तो सुनने के लिये अत्यन्त सुघड़ हैं, या तो हरिदासों के चरित्र या श्रीहरि के चरित्र। हाँ तो किस सन्त ने भाग्य को अन्यथा कर दिया, किसने विधि के लेख पर मेख मार दी, सुनाइये।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा चित्रकेतु कहने लगे—"प्रभो ! मैंने कथा कहने वालों के मुख से यह कथा सुनी थी, बात प्राचीन है। एक बड़े ही धनिक श्रेष्ठी थे, उनके यहाँ अटूट धन सम्पत्ति थी। सर्वत्र उसका व्यापार चलता था। घर में सभी प्रकार की सुख सामग्रियाँ थी, किन्तु उनके कोई पुत्र नहीं था। श्रेष्ठी की पत्नी बड़ी धर्म परायणा थी, पति को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करती, उसकी इच्छानुसार बर्ताव करती। श्रेष्ठी साधु-सेवी था, जो भी साधु-सन्त आते उनका सत्कार करता, यथायोग्य उनकी पूजा करता। श्रेष्ठी दम्पत्ति सन्तान के बिना सदा मेरी ही भाँति चिन्तित रहते थे। एक बार दैवयोग से घूमते-फिरते नारद जी उनके घर पधारे। देवर्षि नारद को देखकर दोनों पति-पत्नी परम प्रसन्न हुए और उनका यथोचित आदर-सत्कार किया,

विधिवत् षोडशोपचार पूजा की। श्रेष्ठी की पूजा को स्वीकार करके नारदजी ने उनकी कुशल पूछी।"

अपनी कुशल बताकर श्रेष्ठी ने पूछा—"प्रभो! आप कहाँ से आ रहे हैं और अब कहाँ जाने वाले हैं?"

नारदजी ने कहा—"भाई! जनलोक में ऋषियों का एक सत्र था उसी में सम्मिलित होने मैं गया था। अब मैं भगवान् विष्णु के दर्शन करने विष्णुलोक जा रहा हूँ।"

श्रेष्ठी ने दीनता के स्वर में कहा—"प्रभो! आप तो भगवान् के पार्षद हैं, परोपकार ही आपका व्रत है। नित्य भगवान् के यहाँ आते जाते रहते हैं। मेरा एक काम कर लावेंगे क्या?"

नारदजी ने कहा—"बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य कर लाऊँ। मेरे योग्य जो कार्य हो उसे करने के लिये सदा प्रस्तुत हूँ।"

श्रेष्ठी ने कहा—"भगवन्! आपके लिये क्या योग्य क्या अयोग्य। आप तो सर्व समर्थ हैं, जो चाहें कर सकते हैं। मुझे एक बड़ी चिन्ता रहती है। मेरे यहाँ इतनी अतुल सम्पत्ति है, किन्तु आगे इसका उपभोग करने वाला तथा पितरों को पानी देने वाला कोई मेरे पुत्र नहीं है। यह सब वस्तुएँ भाग्य से प्राप्त होती हैं। मैं केवल यह जानना चाहता हूँ कि मेरे भाग्य में पुत्र है या नहीं। यदि नहीं, तो मैं निश्चिन्त होकर साधुसेवा ही करूँ होवे तब तो आप यह पूछ आवें कब होंगे? इस प्रकार दुविधा में चित्त सदा व्यकुल रहता है।"

नारदजी ने कहा—"बहुत अच्छी बात है, मैं आज ही जाकर भगवान् से पूछूँगा और आज ही तुम्हें इसका उत्तर भी दे जाऊँगा।"

इतना कहा और नारद जी अपनी वीणा उठा विष्णुलोक

की ओर चल दिये। विष्णुलोक में पहुँचकर उन्होंने भागवान् की स्तुति की, गाना गाया और सुमधुर कीर्तन सुनाया। नारदजी की स्तुति सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और पूछा—"नारदजी! इस समय आप कहाँ से आ रहे हैं?"

भगवान् की बात सुनकर उत्सुकता के स्वर में नारदजी बोले—"भगवन्! मैं इस समय मर्त्यलोक से आ रहा हूँ, आप से एक विशेष बात पूछनी थी। वह जो श्रेष्ठी है वड़ा साधु सेवी है आपका भक्त है। उसको कोई सन्तान नहीं है। वह सदा इसके लिये चिन्तित रहता है, सो उसके सन्तान होगी या नहीं? यदि होगी तो कब होगी?"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"नारदजी! आपको सदा दूसरों की चिन्ता लगी रहती है। महाभाग। उसके भाग्य में इस जन्म की तो कौन कहे सात जन्मों तक सन्तान नहीं है। भाग्य को अन्यथा करने में तो मैं भी समर्थ नहीं।"

यह सुनकर नारदजी भगवान् को प्रणाम करके वीणा बजाते हुए पुनः क्षण भर में ही मर्त्यलोक में आ गये और उस श्रेष्ठी से आकर कहने लगे—"भक्तजी! अत्यन्त दुख की बात है, कि आपके कोई सन्मान नहीं हो सकती। इसी जन्म में नहीं सात जन्मों तक तुम्हारे सन्तान का योग नहीं।"

श्रेष्ठी ने कहा—"चलो, भगवन्! अच्छा हुआ जो यह बात मालूम पड़ गयी। अब दुविधा तो नहीं रही। अब इस धन का मैं सदुपयोग करूँ। साधु-सन्तों को सेवा और परोपकार में इसे लगाऊँगा।"

इतना कहकर नारदजी तो चले गये, अब श्रेष्ठी ने अपने उपार्जित धन का सदुपयोग करना आरम्भ किया। उसने विद्यार्थियों के लिये बहुत से विद्यालय खुलवा दिये, अनाथ बालको के भोजन वस्त्रों का प्रबन्ध कर दिया। दीन दुखियों के लिये अन्न-

क्षेत्र खोल दिये, गरीबों के लिये निःशुल्क दातव्य औषधालय बनवा दिये, आतुरों के लिये उपचार गृह और सुश्रूषा भवन बनवा दिये। सारांश कि उसने अपना सारा द्रव्य परोपकार में लगा दिया। उसके यहाँ जो भी साधु-सन्त-महात्मा आते, उनका ईश्वर बुद्धि से पूजन करता और सब प्रकार से सेवा करता।

एक दिन घूमते-फिरते कोई बड़े भारी विरक्त अवधूत आ गये जो भगवान् के अनन्य भक्त थे। अहर्निश कृष्ण कीर्तन करते रहते थे। एक कोपीन मात्र ही उनका संग्रह था। भक्त दम्पत्ति ने उनकी अत्यधिक सेवा सुश्रूषा की। उन दोनों पति-पत्नी की सेवा से सन्तुष्ट हुए सन्त ने उनसे पूछा—"तुम्हारे घर में कोई सन्तान नहीं दीखती।"

दुःख के साथ स्त्री ने कहा—"भगवन्! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? पूर्व जन्म में कुछ किया होता तो पुत्र का मुख देखने को मिलता।"

महात्मा के हृदय में दया आ गई और सहसा बोल उठे—अच्छी बात है, जाओ तुम्हारे एक बच्चा हो जायगा।"

स्त्री ने चौंककर कहा—"अजी महाराज! हमारे एक बच्चा हो जायगा, यह आप कैसी बात कह रहे हैं।"

संत ने कहा—"क्या तुम एक से सन्तुष्ट नहीं, अच्छी बात है दो हो जायँगे।"

स्त्री ने शीघ्रता से कहा—"नहीं, भगवन्! मेरा अभिप्राय नहीं एक हों दो हों, किन्तु क्या ऐसा सम्भव है, कि हमारे सन्तान हो जाय?"

महात्मा बोले—कहता तो हूँ हो जायँगे हो जायँगे हो जायँगे। दो नहीं तीन होंगे।

अब तो श्रेष्ठि चुप न रह सके बोले—"भगवन्! देवर्षि नारद

पधारे थे, उनसे मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे भाग्य में सन्तान है ही नहीं। क्योंकि........

बीच में ही बात काटकर सन्त बोले—"नारद की ऐसी तैसी। अब कहने तुम्हारे चार पुत्र होंगे।"

श्रेष्ठि बड़ा आश्चर्य में पड़ा। उसने कहा—"भगवन्! आप मेरी बात तो सुनें। नारदजी भगवान् के यहाँ जा रहे थे, मैंने उनसे पुछवाया, मेरे भाग्य में सन्तान है कि नहीं। इस पर भगवान् ने कहा कि सात जन्मों तक इसके सन्तान नहीं है।"

इस पर सन्त बोले—"हम कहते हैं—"तुम्हारे सात लड़के होंगे।"

अब क्या कहते सेठजी चुप हो गये। महात्मा इच्छानुसार अन्यत्र चले गये। कुछ काल के पश्चात् सेठ की पत्नी को गर्भ रहा और वर्ष भर के पश्चात् उसने एक एक पुत्ररत्न का प्रसव किया। इसी प्रकार सात वर्ष में सात लड़के हो गये। उस भक्त दम्पति की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। बच्चे बड़े ही सुन्दर सुकुमार शील और सर्वगुण सम्पन्न थे। वे अपनी बाल लीलाओं से माता-पिता को सदा प्रसन्न करते रहते थे।

कुछ काल के पश्चात् घूमते-फिरते एक दिन श्री नारदजी फिर उसी गृहस्थ के घर आ पहुँचे। नारदजी को देखकर दोनों पति-पत्नी ने उनका अत्यधिक आदर किया। सभी बच्चों ने आकर मुनि की चरण वन्दना की। माता-पिता ने सभी को मुनि के चरणों में लिटा दिया।

बच्चों को देखकर नारदजी ने आश्चर्य के साथ पूछा—भक्तवर! ये किनके पुत्र हैं? ये आप के घर में क्यों रहते हैं।

हाथ जोड़े हुए उन श्रेष्ठी ने कहा—"भगवन्! ये सब आप के ही सेवक हैं?"

चौंक कर नारदजी ने पूछा—"हैं, क्या कहा ? ये सब तुम्हारे पुत्र हैं ? क्या ये सब के सब सेठानी जी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ?"

सेठजी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! आप सब सन्तों की दया है। ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि ये सब सन्त सेवी बनें।"

नारदजी के तो आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान् के ऊपर खीज गये। सोचने लगे—"भगवान् ने मुझे झूठा बना दिया। यह गृहस्थी क्या सोचता होगा, कि यह नारद तो झूठे ही गप मारता है, मैं भगवान् के यहाँ जाता हूँ।" यह सोचकर नारदजी को तो बड़ा क्रोध आया। शीघ्रता से उन्होंने अपनी वीणा उठाई और खड़ाउओं को चटकाते चोटी को हिलाते राम कृष्ण का गुन गाते भगवान् की सभा में पहुँच ही तो गये।"

भगवान् नारदजी की व्यग्रता को देखकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"आइये नारदजी ! कहिये कहाँ-कहाँ से आये ! कैसे आज अनमन से बने हुए हो ?"

रोष के स्वर में नारदजी ने कहा—"अजी महाराज ! रहने भी दो। आप तो मुझे सदा सबके सामने हास्यास्पद बनाते रहते हैं। आपको मेरी मान प्रतिष्ठा अपकीर्ति का कुछ भी ध्यान नहीं है।"

अनजान की भाँति भगवान् ने पूछा—"क्यों, क्यों नारदजी! क्या हुआ ? क्या हुआ ? कैसे आपका अपमान हुआ ?"

नारदजी ने रोष में कहा—"महाराज ! आप तो कहते थे उस सेठ के भाग्य में सात जन्मों तक सन्तान नहीं है। मैं तो उसके एक नहीं दो नहीं तीन नहीं पूरे ७।७ बच्चे अभी इसी जन्म में प्रत्यक्ष खेलते हुए देखकर आया हूँ। वह सोचता होगा, यह नारद बड़ा झूठा है, जो भगवान् की बात कहकर असत्य बातें लोगों से कहता फिरता है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"नारदजी ! इस समय तो मेरा स्वास्थ ठीक नहीं है। कल मैं आपको इसका उत्तर दूँगा।"

दूसरे दिन नारद गये, तो लक्ष्मीजी ने उदास होकर कहा—"आज तो भगवान् को न जाने कैसी पीड़ा हो गई है।"

नारदजी तो यह सुनकर घबड़ा गये भगवान् के समीप गये और बोले—"प्रभो ! आप तो सुख दुख से रहित हैं आपको यह असह्य वेदना कैसे हो गई।"

भगवान् ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"नारद ! क्या बताऊँ, यद्यपि मुझे स्वयं कोई कष्ट नहीं होता किन्तु भक्तों का कष्ट तो मुझे अपने ऊपर लेना ही पड़ता है। एक भक्त का ही कष्ट है, जब एक कोई भक्त ही इसका निवारण न करे, तब तक मुझे शान्ति नहीं, चैन नहीं, सुख नहीं।"

नारदजी ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"भगवन् ! आप बताइये। संसार में तो आपके बहुत से भक्त हैं। कोई भक्ती में नाचते हैं कोई रोते हैं, कोई गाते हैं, कोई दिन भर घण्टी ही हिलाते रहते हैं। आपके लिये तो सभी भक्त सभी कुछ करने को तत्पर होंगे।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, कोई अत्यन्त भक्त जीवित अपने हाथों से अपना हृदय निकाल कर दे दे, तो मेरा दुख दूर हो सकता है।"

नारदजी ने शीघ्रता के साथ कहा—"भगवन् यह कौन-सी बड़ी बात है। मैं तो १४ भुवनों में घूमता रहता हूँ। बहुत से भक्तों से मेरा परिचय है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी, बात है नारदजी ! आप जाँय और किसी भक्त का हृदय निकलवा कर लावें, किन्तु किसी गृहस्थी भक्त के पास मत जाना। वे विचारे तो अपने हृदय को स्त्री-बच्चों को दे ही चुके हैं। ऐसे विरक्त भक्तों के ही पास जाना

जो मेरे निमित्त ही लगोंटी लगाकर बाबाजी बन गये हैं। मेरा नाम लेकर ही भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करते हैं।"

नारदजी ने कहा—"महाराज! यह तो और भी सरल हो गया। गृहस्थियों में भी बड़े ऊँचे-ऊँचे भक्त हैं, किन्तु सम्भव है, कोई स्त्री बच्चे के कारण हृदय देने में हिचकता। इन बाबाजियों के लिये क्या, न आगे नाथ न पीछे पगहा। भगवान् के काम में उनका हृदय लग जाय, तो इससे उत्तम कौन-सी बात है। मैं अभी जाता हूँ।

भगवान् ने कष्ट से निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"नारदजी! हाँ जाइये। यदि ऐसे किसी भक्त का हृदय मिल जाय, तो मुझे शान्ति होगी नहीं तो इसी प्रकार तड़पता रहूँगा।"

नारदजी इतना सुनते ही अपनी वीणा को उठा कर चल दिये। वे साधुओं के पास जायँ और कहें—"भाई भगवान् को बड़ा कष्ट है तुम जीते जी अपना हृदय निकाल कर दे दो भगवान् को शान्ति होगी।" इस बात को सुनकर कोई हँस जाते कोई नारदजी को पागल बताते। कोई कहते नारद तो ऐसे ही ऊट पटाँग बकते हैं। कोई कहते भगवान् को क्या कष्ट! कोई कहते—"अजी, भंडारे खा-खाकर जो यह देह इतनी पाली-पोसी है, सो क्या अपने हाथ से चीरने के लिये। कटने मरने को तो गृहस्थी ही बहुत हैं। अपने राम तो राम राम-रटते हैं, भर पेट प्रसाद पाते हैं। हृदय-फृदय कोई दूसरा दे।

भगवत भजन पेट को धंधो। और करे सौ पूरो अंधो।

कोई कहते—"राम राम रटना। पराया माल अपना" कोई कहते—"राम नाम लड्डू गोपाल नाम घीउ, हरि को नाम मिश्री तू घोर-घोर पिउ।

नारदजी बड़े घबड़ाये, कि इन बाबाजियों से तो गृहस्थी ही अच्छे हैं। इधर से उधर बहुत घूमे किन्तु अपने आप हृदय

निकाल कर देने वाला कोई नहीं मिला। नारदजी उदास होकर भगवान् के पास गये और दुखित मन से कहने लगे–'प्रभो! आप की माया बड़ी प्रबल है। महाराज! कोई तैयार नहीं होता।

भगवान् यह सुनकर बड़े सोच में पड़ गये। कुछ काल सोचकर बोले–"नारदजी! एक काम और करो देखो, विन्ध्याचल के उस अरण्य में गंगा किनारे वट वृक्ष के नीचे एक विरक्त बाबाजी पड़े हैं, उनके पास और जाओ संभव है उनके समीप जाने से कार्य हो जाय।"

नारदजी तो इसके लिये उत्सुक ही थे, गये महात्माजी के पास। देखा, एक अवधूत पत्थर की शिला का तकिया बनाये आनंद पूर्वक लेट रहे हैं। उनके दोनों अधर पुट निरंतर हिल रहे हैं। प्रतीत होता है वे निरन्तर नामस्मरण ही करते रहते हैं। एक लँगोटी लगी हुई है, न कोई कंथा है न कमंडलु। मस्त साँड़ की भाँति निश्चिन्त पड़े हैं। नारदजी ने वहाँ जाते ही अपनी वीणा पर जयजय रामकृष्ण हरि का अलाप किया। अपने सम्मुख ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी को देखकर वे अवधूत उठकर खड़े हो गये और प्रणाम करके बोले—"आइये नारदजी! आप तो भक्ताग्रगण्य हैं। बड़े भाग्य से आपके दर्शन होते हैं। भगवान् के दर्शनों से भक्तों के दर्शन दुर्लभ माने जाते हैं।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! विष्णु भगवान् को कुछ व्यथा है वह तभी शान्त होगी जब कोई जीवित भक्त अपना हृदय निकाल कर स्वतः दे दे।"

इतना सुनते ही उन परमहंसजी ने पूछा—"नारदजी! आप छुरा लिये हैं?" नारदजी तो छुरा लिये घूम ही रहे थे बोले—"महाराज! मैं तो छुरा लिये सर्वत्र घूमा कोई विश्वास ही नहीं करता। सब कहते हैं—"भगवान् को क्या कष्ट हो सकता है।

भगवान् तो स्वयं सबके कष्टों को हरने वाले हैं। इसीलिये कोई तैयार नहीं होता।"

यह सुनकर वे अवधूत बोले—"नारदजी ! भगवान् को कष्ट होता है या नहीं इस विवाद में मैं पड़ना नहीं चाहता। उन्हें कष्ट चाहे हो चाहे न हो, किन्तु आप जब इतने बड़े भगवद्भक्त कह रहे हैं, तब तो इसमें अविश्वास वाली कोई बात ही नहीं। यदि इस क्षणभंगुर देह से भगवान् की रञ्चक मात्र भी प्रसन्नता हो जाय, तो इसे हम अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं। आप जैसे भगवद्भक्तों के कहने से उनके सम्मुख भगवान् के निमित्त ये प्राण चले जायँ, यह हाड़-मांस का बना हृदय प्रभु के काम आ जाय, इससे बढ़कर इस अनित्य नाशवान् रोगों के घर, अशुचि शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है। छुरा मुझे दीजिये, तत्क्षण आप हृदय लेकर जायँ। मेरे तो मन, प्राण शरीर सब कुछ प्रभु के ही निमित्त हैं।"

राजा चित्रकेतु अंगिरा मुनि से कहते हैं—"भगवन् ! इतना कहकर ज्यों ही उन अवधूत ने तीक्ष्ण छुरे से अपने हृदय को विदीर्ण करना चाहा, त्यों ही शङ्ख चक्रधारी वनमाली वहाँ तुरन्त प्रकट हो गये और उन अवधूत का हाथ पकड़ते हुए बोले— "ब्रह्मन् ! आप तो मुझे अपना हृदय दे ही चुके हैं। मैंने उस अपनी वस्तु को इस देह रूपी मन्दिर में रख छोड़ा है। आप इस मन्दिर को तोड़ें नहीं। मुझे जब इच्छा होगी निकाल ले जाऊँगा।"

भगवान् को सम्मुख देखकर अवधूत चकित हो गये। वे आत्म विस्मृत बने प्रभु के पुनीत पादपद्मों में पड़ गये। उन्होंने अपने नयन सरोरुहों के शीतल जल से प्रभु के पादपद्मों का प्रक्षालन किया। नारदजी ने भी भगवान् को सम्मुख देखकर प्रणाम किया। तब भगवान् नारदजी को सुनाते हुए बोले—

"नारद ! अब तुम्हीं सोचो, जो अपना कठिनता से छोड़ने योग्य घर द्वार, कुटुम्ब परिवार, स्त्री बच्चों, धन वैभव आदि सभी को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ गये हैं। उनकी आज्ञा को मैं उल्लंघन कैसे कर सकता हूँ। ऐसे भक्त जो भी कुछ कह दें उसे अन्यथा करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं। ऐसे अनन्य भक्तों के लिये प्रारब्ध का मेंटना, विधि विधान को अन्यथा कर देना कोई कठिन काम नहीं। जब सबके भाग्य का विधाता, मैं स्वयं ही उनके अधीन हूँ, तो उनके सम्मुख प्रारब्ध, दैव, भाग्य का क्या महत्त्व है। यह सत्य है उस श्रेष्ठी के भाग्य में सात जन्मों तक पुत्र नहीं था, किन्तु इन महात्मा के मुख से निकल गया, तो भाग्य न होने पर भी भाग्य बन गया। प्रारब्ध में न होने पर भी उसे पुत्रों को प्राप्ति हो गई। मैं अपने अनन्य भक्तों की बातों को कभी झूठी नहीं होने देता।"

इस पर नारदजी ने कहा—"तो, भगवन् ! मैं भी तो आपका भक्त हूँ, मेरी बात आपने झूठी क्यों कर दी।"

हँसकर भगवान् बोले—"आप भक्त हैं इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं। किन्तु नारदजी बुरा न मानें तो एक बात कहूँ ?"

नारदजी ने कहा—"नहीं, महाराज ! बुरा मानने की कौन-सी बात है, आप तो जो भी कहेंगे मेरे कल्याण के लिये कहेंगे। आपके वचन मेरे लिये तो शिक्षाप्रद ही होंगे।"

इस पर हँसते हुए भगवान् बोले—"नारदजी ! तुमने भी तो लँगोटी लगाई है। तुम भी तो विरक्तों के शिरोमणि कहाते हो। जब मुझे विरक्त के हृदय की ही आवश्यकता थी, तो आप अपनी बगल में छूरा दबाए इधर से उधर एक लोक से दूसरे लोक में मारे-मारे क्यों फिरे। तुरन्त वहीं कह देते, कि महाराज ! मैं स्वयं उपस्थित हूँ मैं अपना हृदय निकाल कर दिये देता हूँ। यह सब तो आपने किया नहीं। इधर से उधर मेरे

दुख में दुखी हुए घूमते रहे। भगवान् की इच्छा में इच्छा मिला कर उसके लिये उद्योग करना–प्रयत्न में लगे रहना–यह भी साधारण काम नहीं है। बड़ी ऊँची भक्ति है किन्तु जिन्होंने अपना कुछ रखा ही नहीं जो अनन्य हो गये हैं, वे मुझसे भी बढ़कर हैं, उनके लिये भाग्य का मेंट देना कोई कठिन काम नहीं।"

राजा चित्रकेतु महामुनि अंगिरा जी से कह रहे हैं—"सो, हे प्रभो! आप उन्हीं अनन्य भक्तों में से हैं। आपके लिये प्रारब्ध का मेंट देना कोई कठिन नहीं है। मैं दुखी हूँ, आर्त हूँ, सन्तान के बिना मुझे सुख नहीं है, शान्ति नहीं है। यदि मेरे भाग्य में पुत्र नहीं है, तो आप अपने प्रभाव से मेरे भाग्य को मेंट दीजिये और जैसे बने तैसे मुझे पुत्र दीजिये। मैं आपकी शरण हूँ–आप मेरे स्वामी हैं, सेवक के आग्रह को स्वामी सदा पूरा किया ही करते हैं।"

राजा की ऐसी बात सुनकर सरलता के साथ महामुनि अङ्गिरा बोले—"राजन्! मैं वैसा भगवद्भक्त कहाँ हूँ। नारदजी के आगे मेरी भगवद्भक्ति नगण्य है। फिर भी मैं आपकी इच्छा की पूर्ति करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह कहकर भगवान् अङ्गिरा ऋषि, राजा को पुत्र प्राप्ति कैसे हो, इस विषय में सोचने लगे।"

छप्पय

करि न सकें का संत विष्णुहित जे व्रत धारें।
भाग्य अन्यथा करें रेख पै मेखहु मारें॥
हरि जिनके आधीन भाग्य तिनिको है चेरो।
सन्त दरस जब भये, भयो तब सब हित मेरो॥
सात जनम संतति नहीं, नारद तें बच हरि कहे।
संत कृपा तें सात सुत, भक्त सेठ सो ऊ लहे॥

अङ्गिरा मुनि की कृपा से चित्रकेतु को पुत्र प्राप्ति

[४२१]

इत्यर्थितः स भगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः ।
श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः ॥
अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः ।
हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० २७, २९ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु सुनि विनय दया मुनिवर कूँ आई ।
त्वष्टा के हित खीर ब्रह्म सुत सांविधि बनाई ॥
यजन करयो जो बची बड़ी महिषी कूँ दीन्हीं ।
जाते होवे पुत्र अङ्गिरा आयसु कीन्हीं ॥
रानी कृतद्युति मुदित अति, राजा हू हर्षित भयो ।
खाइ खीर मुनि कृपातें, गर्भ नृपति पत्नी रहयो ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महाराज चित्रकेतु की प्रार्थना पर परम कृपालु ब्रह्मपुत्र भगवान् अङ्गिरा मुनि ने त्वष्ट्रा सम्बन्धी खीर बनाकर उससे त्वष्टा देवता का हवन किया । (यज्ञोच्छिष्ट खीर को रानी को देकर, उन्होंने कहा—"राजन् ! इस खीर से आपके एक पुत्र होगा, जो तुम्हें पहिले हर्ष भी होगा और पीछे शोक भी ।" इतना कहकर अङ्गिरा मुनि वहाँ से चले गये ।"

जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है उनका दर्शन अमोघ होता है। जिन्हें ऐसे सन्तों के दर्शन हो जायँ, उनका भव बन्धन ढीला पड़ जाता है। यदि कहीं उनकी कृपा हो जाय, तब तो बेड़ा पार ही है। सन्त की कृपा से कुछ कष्ट-सा भी प्रतीत हो, तो उसका परिणाम सुखकर ही होगा। क्योंकि सन्त तो अत्यन्त थोड़े ही समय में प्रारब्ध के भोग को पूरा करा देते हैं। सामान्य नियम को विशेष कृपा से नष्ट कर देते हैं। या बहुत कुछ कम कर देते हैं। तप और मन्त्रों के प्रभाव से वे नूतन अदृष्ट उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब राजा चित्रकेतु बार-बार भगवान् अंगिरा मुनि से पुत्र के लिये विनय करने लगे।" तो कृपालु मुनि को उनके ऊपर दया आ गई और बोले—राजन्! मैं आपको एक पुत्र के निमित्त यज्ञ कराऊँगा। उससे आपके अवश्य एक पुत्र होगा।"

इतना सुनते ही राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उनकी मुरझाई हुई आशा लता मुनि के अमृत रूप वचनों के पड़ते ही पुनः हरी भरी हो गई। प्रेम में विह्वल होकर उन्होंने मुनि के कसकर पैर पकड़ लिये और गद्गद कण्ठ से कहने लगे—"हे प्रभो! आप ही मेरी डूबती हुई नौका के पार करने वाले सर्व-समर्थ नाविक हैं। आप ही मेरी इच्छा को पूर्ण करने वाले कल्पतरु हैं। आपकी कृपा के सहारे ही मैं अपने मनोरथ रूप दुस्तर सागर को सरलता के साथ तर जाऊँगा। बताइये मैं क्या करूँ। आज्ञा दीजिये, कौन-कौन-सी सामग्री एकत्रित करूँ।"

राजा के ऐसे हर्ष युक्त विनीत वचन सुनकर मुनिवर अंगिरा ने यज्ञ की समस्त सामग्री बताई। राजा ने बड़े उत्साह के साथ समस्त सामग्री को शुद्धता और सावधानी के साथ संग्रह किया। भगवान् अंगिरा ने शास्त्रीय विधि से यज्ञ आरम्भ

किया। उस पुत्र के निमित्त की हुई दृष्टि में त्वष्टा देवता की प्रधानता थी, इसीलिये मुनि ने सभी देवताओं को आहुतियाँ देने के अनन्तर त्वाष्ट्र चरु तैयार किया। उसे शास्त्रीय विधि से मन्त्रों के द्वारा विधिवत् त्वष्टा देवता के निमित्त अग्नि में हवन किया। हवन करने के अनन्तर जो यज्ञ शेष चरु अवशिष्ट रहा, उसे लेकर मुनि बोले—"राजन्! आपके एक ही पुत्र होगा। बोलिये, किस रानी से आप पुत्र चाहते हैं?"

एक दो रानी होतीं तो राजा बताते भी। लाखों रानियाँ थीं, सभी के मन में यह इच्छा हो रही थी, कि महाराज हमारे द्वारा ही सन्तान उत्पन्न करावें। सभी बड़ी उत्सुकता से महाराज के निर्णय को, धड़कते हुए हृदय से प्रतीक्षा कर रही थीं। इतने में ही पुरोहित ने कहा—"भगवन्! पत्नीत्व उसी को कहा गया है, जो सबसे ज्येष्ठा रानी हो, जिसके साथ यज्ञ की प्रधान दीक्षा ली जाती है। महाराज की बगल में जो सबसे बड़ी पट्ट महिषी महारानी कृतद्युति विराजमान हैं। इनके ही द्वारा सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये। न्यायतः ये ही इसकी अधिकारिणी हैं। पुरोहित की ऐसी बात सुनकर शेष सभी रानियाँ हताश हो गई। उनकी आशा लता पर पानी फिर गया। न्यायतः महारानी कृतद्युति ही पट्ट महिषी थीं, उन्हें ही यज्ञ अवशिष्ट चरु दिया गया। शास्त्रीय विधि से राजा ने उस चरु को सूँघकर रानी को दिया। पुरोहित और ब्राह्मणों की आज्ञा से रानी ने उस यज्ञ अवशिष्ट खीर को खाया। यज्ञ की पूर्णाहुति हुई अवभृत स्नान हुआ। महामुनि अङ्गिरा राजा से अनुमति लेकर ब्रह्मलोक को चले गये।

इधर ऋतु स्नान के अनन्तर महारानी कृतद्युति ने महाराज के सकाश से गर्भ धारण किया। राज्य भर में आनन्द छा गया। रानी राजा के आनन्द की सीमा नहीं रही, किन्तु रानी की सौतों

के मन में कुछ डाह हुआ। हाय! हम वैसे ही रह गईं।

जिस प्रकार शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है, जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में सोम लता नित्य बढ़ती है उसी प्रकार रानी का गर्भ दिन-दिन बढ़ने लगा। जब गर्भ के दिन पूरे हो गये तो रानी ने एक अत्यन्त ही सुन्दर कुमार को जन्म दिया। वह कुमार क्या था, सौन्दर्य की साक्षात् सजीव मूर्ति ही था। उसका मुख ऐसा था मानो चन्द्रमा को मथकर उसके सार भाग से वह बनाया गया हो, इतने सुन्दर सुकुमार मनोहर बच्चे को देखकर माता पिता के हर्ष की सीमा नहीं रही।

राजा ने जब सुना कि मेरी पट्टमहिषी ने पुत्ररत्न का प्रसव किया है, तो वे आनन्द के कारण विह्वल से हो गये। राज्य में जिसने भी सुना उसी ने आनन्द मानाया। सर्वत्र बधाये बजने लगे। सभी ने अपने-अपने घर उसी प्रकार उत्सव किया, मानो उनके ही यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ है। राज्य भर में आनन्द की लहर-सी आ गई। सर्वत्र धूम मच गई। राजा ने अपने कोषागार, भण्डार सब खोल दिये। ब्राह्मणों से कह दिया—"जिसे जितनी इच्छा हो; धन ले जायँ, जिसे जितने चाहिये मणि मुक्ता ले जायँ, जिसे जितनी इच्छा हो गौओं को हाँक ले जायँ।" ब्राह्मणों ने महाराज को विधिवत स्नान कराया, मङ्गलमय मन्त्रों से स्नान करके महाराज ने सुन्दर वस्त्र भूषणों को धारण किया। ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिये। बालक के स्वस्तिवाचन पूर्वक जात कर्म संस्कार कराये। नान्दीमुख श्राद्ध के समय राजा ने असंख्य वस्तुओं का दान दिया। इस प्रकार सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, ग्राम, हाथी, घोड़े, करोड़ों गौओं को राजा ने ब्राह्मणों और याचकों को दान दिया। राजा चाहते थे मेरा पुत्र तेजस्वी, यशस्वी और दीर्घजीवी हो।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस वस्तु की प्राप्ति में

जितनी अधिक प्रतीक्षा तपस्या करनी पड़ती है, उसकी प्राप्ति में उतना ही अधिक सुखानुभव होता है। जो वस्तु जितने ही अधिक श्रम से प्राप्त होती है उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। भगवान् यदि ऐसे ही बिना परिश्रम के जहाँ-तहाँ जिसे-तिसे मिल जायँ, तो फिर उनकी प्राप्ति उतनी महत्व पूर्ण न समझी जाय। यदि कन्या को पति प्राप्ति में इतनी उत्कंठा इतनी प्रतीक्षा न करनी पड़े, केवल सरलता से दो बातें करने पर ही मिल जाय तो उससे उतना अधिक स्थाई सुख न होगा। यदि कङ्कर पत्थर की भाँति सोना-चाँदी जहाँ तहाँ वैसे ही मिल जाया करें, उनके लिये श्रम न करना पड़े, वे भी कंकड़ पत्थर की भाँति सबको प्राप्त हो सकें तो सोने में और कंकड़ में अन्तर ही क्या है, दोनों ही पृथ्वी के विकार हैं, दोनों ही पृथ्वी से निकलते हैं। अन्तर इतना ही है कि कंकड़ों की अपेक्षा सुवर्ण निकलने में श्रम अधिक करना पड़ता है। उसकी प्राप्ति में कणकड़ों की अपेक्षा अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः वस्तु का मूल्य नहीं, उस पर जो श्रम किया जाता है, उसका मूल्य अधिक हो जाता है।"

निर्धनों के यहाँ प्रतिवर्ष चूहे बिल्ली की भाँति बच्चे पैदा होते हैं। उनके पैदा होने से उन्हें उतनी प्रसन्नता नहीं होती। यही नहीं दरिद्र बड़े परिवार में अन्न वस्त्रों के अभाव के कारण अधिक सन्तान होने से कष्ट का भी अनुभव होता है, किन्तु जिनके पुत्र हुआ ही नहीं, घर में अटूट धन सम्पत्ति भरी पड़ी है, वे हर समय चाहते रहते हैं किसी प्रकार एक पुत्र हो जाय। पुत्र के लिये उसी प्रकार प्रतीक्षा करते रहते हैं जैसे चातक स्वाति बूँदों की प्रतीक्षा करता रहता है। दैवयोग से उनके कहीं पुत्र हो जाय तो उन्हें जो आनन्द होगा वह वर्णनातीत है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! चिरकाल में—बहुत दिनों

की प्रतीक्षा के अनन्तर महाराज चित्रकेतु ने पुत्र का मनोहर मुख देखा था, अतः जिस प्रकार किसी कङ्गाल को कठिनता से करोड़ों रुपये प्राप्त हो जाने पर उनमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है उसी प्रकार अत्यन्त क्लेश से प्राप्त उस प्यारे पुत्र में राजर्षि चित्रकेतु का प्रेम दिन-दूना रात्रि चौगुना बढ़ने लगा। उन्हें बिना पुत्र का मुख देखे पल-भर भी चैन नहीं पड़ता था। राजसभा से बीच में कई बार उठकर पुत्र का मुख देखने आते और उसके मुख को अत्यन्त आसक्ति से बार-बार चूमकर चले जाते। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता जाता था त्यों-त्यों उसके प्रति राजा का मोह भी अत्यधिक बढ़ता जाता था। वह राजा के बाहरी प्राणों के समान प्यारा हो गया।"

छप्पय

शुक्लपक्ष को चन्द्र बढ़े ज्यों बढ़ै गर्भ त्यों।
त्यों-त्यों आनँद बढ़े गर्भ दिन बीते ज्यों-ज्यों॥
समय पाइके पुत्र भयो सब लोग सिहाये।
राज माहि सर्वत्र नगर पुर बजत बधाये॥
सुनत पुत्र के जन्म कूँ, अति आनन्दित नृप भये।
गौ, धन, वर-भूषन, वसन, पुर पत्तन विप्रनि दये॥
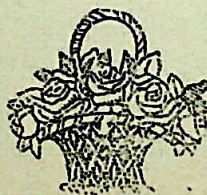
रानी कृतद्युति की सौतों द्वारा सुत को विष प्रदान

[४२२]

एवं संदह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा ।
राज्ञोऽसमतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥
विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः ।
गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥*

(श्री भाग० ६ स्क० १४ अ० ४२, ४३ श्लो०)

छप्पय

दिन-दिन बाढ़्यो नेह गेह सुत तनिक न त्यागें ।
नहिँ औरनि घर जाहँ कृतद्युति महल विराजें ॥
सौतिनि मन अति डाह पुत्र नहिँ शत्रु भयो है ।
जब तें जनम्यो दुष्ट छीनि पतिप्रेम लयो है ॥
जा कंटक कूँ काटि कें, निष्कंटक हम होहिँ कम ।
विष दे मारो शत्रु कूँ, सब मिलि निश्चय कियो अस ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार महारानी कृतद्युति की सौतों का उसकी पुत्ररूप-सम्पत्ति से सन्तप्त होने से और राजा के द्वारा भी अपमानित होने के कारण उनका महारानी के प्रति अत्यन्त द्वेष हो गया । उन कठोर हृदय वाली क्रूरचित्त स्त्रियों की विद्वेष के कारण बुद्धि नष्ट हो गई, अतः वे राजा के इस सुख को सहन न कर सकीं । उन्होंने इस बालक को विष दे दिया ।

संसार में शत्रु बाहर नहीं है। अपने भीतर ही शत्रु छिपे हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये ६ शत्रु सदा मनुष्य के भीतर बैठे रहते हैं। जिसने इन पर विजय प्राप्त कर ली, वह विश्वविजयी हो जाता है। जो इनके अधीन बन गया, उसे पग-पग पर पराजित होना पड़ता है। पर उत्कर्ष को देखकर हृदय में डाह होना; जलन होना इसी का नाम ईर्ष्या है। ईर्ष्या के वशीभूत होकर प्राणी बड़े-बड़े दारुण पाप कर डालता है। अपनी हानि उठाकर ही परोपकार किया जाता है, जो सदा सब से अपना स्वार्थ ही सिद्ध करना चाहता है, जहाँ स्वार्थ में तनिक सा भी व्याघात हुआ वहीं जो बिगड़ जाते है। वे कृपण कहलाते हैं। उनका स्वभाव क्रूर हो जाता है। सौहार्द्र उनमें रहता नहीं ये धनिक प्रायः हृदयहीन होते हैं, क्योंकि इनमें सौहार्द्र की मात्रा नहीं रहती। ये चैतन्य से प्रेम करना नहीं जानते सोना चाँदी जड़ पदार्थों में ही इनका प्रेम सीमित रहता है। धन के लोभ के कारण ये चाहे जो कर सकते हैं। इसी प्रकार क्रोधी पुरुष भी किसी का प्यारा नहीं होता। क्रोध में आकर वह अपने सगे सम्बन्धियों की भी हत्या कर डालता है। यही दशा कामियों की हैं, काम को ही जो स्त्री पुरुष सर्व श्रेष्ठ सुख मानते हैं, उनके काम सुख में जहाँ व्याघात हुआ, वहाँ अत्यन्त क्रूर हो जाते हैं। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा काम वासना अधिक होती है, इसी लिये जो स्त्री अपने सतीत्व से भ्रष्ट हो जाती है, वह काम सुख के लिये क्रूर से क्रूर कार्य करने में नहीं हिचकती। काम के पीछे न करने योग्य कामों को भी कर डालती है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस संसार की रचना भगवान् ने कैसी विचित्र की है। कैसी विपरीत वस्तुओं से इस जगत् का निर्माण हुआ है। जो वस्तु एक के लिये सुखकर है वही दूसरों के लिये दुख देने वाली होती है। चन्द्रमा की चाँदनी

सब लोगों को सुखकर है, किन्तु चोरों को और विरहियों को वही दुःख देने वाली हो जाती है। वर्षा से सभी को सुख होता है, किन्तु जिस कुम्हार के कच्चे बर्तन बाहर रखे हैं, उसे वर्षा से दुख होता है। अपने परिजन की मृत्यु पर घर वालों को दुख होता है, किन्तु शत्रु इस सम्वाद से सुखी होते हैं। एक डाकू को देखकर पथिक मारे डर के थर-थर काँपने लगते हैं, वही जब अपनी प्रिया के पास जाता है, तो वह सुखी होती है। इसी प्रकार इस संसार में जो सबको प्रिय हो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं।

महाराज चित्रकेतु की बड़ी रानी कृतद्युति के पुत्र हुआ, समस्त प्रजा को राजा रानी को अत्यन्त हर्ष हुआ, किन्तु कृतद्युत की सौतों को—राजा की अन्य रानियों को—उसके कारण दुख हुआ। इसका कारण यही था कि अब राजा महारानी कृतद्युति को ही सबसे अधिक चाहने लगे। उसी का अत्यधिक मान सम्मान होने लगा। उसी के महलों में महाराज रात्रिदिन रहने लगे। रानी का अपने फूल से सुकुमार इकलौते पुत्र पर इतना स्नेह था, कि पल भर भी वह उसे आँखों से ओझल न होने देती। राजा भी कंगाल के धन की तरह अपने पुत्र को चाहते। अब वे अन्य रानियों को भूल से गये।

× × × ×

अब तक तो यह बात थी कि सभी रानियाँ एक सी थीं। किसी के भी संतान नहीं थी। राजा चाहें जिसके महलों में चले जाते। सभी अपने को एक समान ही समझती थीं, अब तो भेद भाव हो गया। एक के पुत्र हो गया शेष वन्ध्या ही बनी रहीं। यदि वन्ध्या होने पर भी राजा पहिले की भाँति उन पर स्नेह करते, उनका आदर सत्कार करते, तो भी उनको सन्तोष रहता, किन्तु राजा तो अपने पुत्र के मोह जनित स्नेह में ऐसे विमूढ़ बन गये, कि वे और सब रानियों को भूल ही गये। कृतद्युति को

अपने सौभाग्य पर गर्व था, अन्य रानियाँ उससे डाह करने लगीं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! एक ही दुःख में दुखी लोग परस्पर में द्वेष भाव को छोड़कर सहानुभूति रखने लगते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि गंगा की बाढ़ में सर्प मनुष्य दोनों बहकर किसी पेड़ के आश्रय में रुक गये हैं। एक पेड़ पर चढ़े हैं। सर्प काटता नहीं वह भी शान्त बना पड़ा रहता है। राजा की अन्य सभी रानियों को एक-सा ही दुःख था। सभी का राजा की ओर से तिरस्कार हो रहा था, सभी सन्तानहीन थीं। सभी का अन्तःकरण जल रहा था। अतः उन सब ने मिलकर गोष्ठी की। उनमें जो अपने को सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझती थी जिसे अपने रूप यौवन सौन्दर्य माधुर्य का अत्यधिक गर्व था, वह सबके प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई बोली—"बहिनो! देखो! हम सब राजपुत्रियाँ हैं। हमने राजवंश में जन्म लिया है। हम वैसे ही आ गई हों सो भी बात नहीं है, राजा ने धर्म पूर्वक शास्त्रीय विधि से हमारे साथ विवाह किया है। अब तक वे हमारा समानभाव से आदर-सत्कार और सम्मान भी करते थे, किन्तु जब से हमारी सौत कृतद्युति के लड़का हुआ है, तब से वे हम सबका अपमान करने लगे हैं। कृतद्युति की दासियों से तो वे कैसी घुल-घुलकर बातें करते हैं, किन्तु हमें देखते ही मुँह फेर लेते हैं। कभी कुशल प्रश्न भी नहीं पूछते हमारे महलों में आना तो पृथक रहा। स्त्रियों का धन सर्वस्व पति ही है। पति के पीछे ही वे अपने को सौभाग्यवती समझती हैं। जिन स्त्रियों का पति जिन्हें अपनी स्त्री करके नहीं मानता और सौतें जिनका दासियों के समान तिरस्कार करती हैं, उन भाग्यहीना पति तिरस्कृता, दुर्भगा पापिनी, सन्तान रहिता स्त्रियों को धिक्कार है। आज हमारी भी ऐसी ही दशा है, हम सब अपने पति के द्वारा अपमानित हो रहीं हैं। हमारा धर्म था अपने स्वामी की सेवा

करना सो हमारी इस कृतद्युति सौत ने हमारा वह भी अधिकार छीन लिया, हम धर्महीना बनी हुई हैं।"

इस पर एक दूसरी बोली—"स्त्री तो सदा से पराधीन होती आई है। उसे सदा दासी बनकर रहना पड़ता है। पति की आज्ञा में चलना पड़ता है। उसके रुख को देखकर व्यवहार करना पड़ता है।"

यह सुनकर तीसरी बोली—"दासी बनने में तो कुछ दुख नहीं सुख ही है। पति की सेवा करने को मिले तो दासीपना भी श्रेष्ठ है। क्योंकि स्त्रियों को तो पति सेवा से सम्मान ही मिलता है, किन्तु आज हम सब संतानहीना होने के कारण कृतद्युति की दासियों की दासियों से भी गई बीती बन गई हैं। कृतद्युति की दासियों की जो सेविकायें हैं उनसे भी महराजा बातें कर लेते हैं, किन्तु हमसे तो बोलते तक नहीं।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार स्त्रियों में परस्पर ऐसी ही रागद्वेष पूर्ण ईर्ष्या की बातें होती रहीं। कृत-द्युति की पुत्र सम्पत्ति से उनका हृदय सन्तप्त हो रहा था। राजा की उपेक्षा ने उनके जलते हुए हृदय में ईंधन का काम किया। अब तो उन दुस्साहस करने वाली क्रूरचित्ता स्त्रियों ने मिलकर निश्चय किया, कि कृतद्युति का यह छोकरा ही हमारे बीच में कंटक है इसी के होने से हम इतनी तिरस्कृता और अपमानिता हो रही है किसी प्रकार इसे ही मार डालना चाहिये। ऐसा निश्चय करके उन्होंने एक दिन सोते हुए बच्चे को चुपके से तीक्ष्ण विष दे दिया। बच्चा विष खाते ही मर गया।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इन स्त्रियों के हृदय का पता नहीं लगता। ये जितनी ही स्नेहमयी कोमलहृदया दयामयी और सरला होती हैं, उतनी ही द्वेष उत्पन्न होने पर क्रूरहृदया और दुस्साहस कर्म करने वाली बन जाती हैं। जब

ये अपने धर्म में स्थित रहती हैं तब तो साक्षात् लक्ष्मीरूपा गृह की कामधेनु के समान सुखकारी होती हैं जब ये काम के

वशीभूत होकर ईर्ष्या, द्वेष, आत्मग्लानि और प्रतिहिंसा के अधीन हो जाती हैं, तो साक्षात् रणचण्डी भयावनी और

राक्षसी बन जाती हैं। उस समय ये कठिन से कठिन क्रूर कर्म कर सकती हैं। पति को मार सकती हैं, पुत्र की हत्या कर सकती हैं, भाई, माता पिता सभी को विष दे सकती हैं और स्वयं भी कूएँ में कूदकर, विष खाकर, फाँसी लटकाकर, आत्म घात कर सकती हैं। जितनी ही ये स्वभावसुलभा कोमलाङ्गी होती हैं उतनी ही कामवश होकर तीक्ष्ण हृदया, क्रूरा बन जाती हैं।"

महाराज चित्रकेतु की पत्नियों की बुद्धि सौत के सौभाग्य को देखकर विद्वेष से नष्ट हो गई थीं। उन्हें राजा का इतना अधिक पुत्र स्नेह सहन न हो सका उनके मन में यह कुबुद्धि बैठ गई कि इसी के कारण हमारा अपमान होता है। अतः विष देकर उसके जीवन का अन्त कर दिया।

श्रीशुकदेव कहते हैं—"राजन्! यह प्राणी कितने-कितने ऊँचे मनोरथ करता है, अन्त में उसके सब मनोरथ विफल हो जाते हैं। महारानी कृतद्युति तो सोच रही थी मेरा सलौना सुत सुख से सो रहा है, किन्तु वह तो सदा के लिये सो गया था। वह तो इस लोक को त्यागकर परलोकवासी हो गया था। कृत-द्युति बार-बार सोचती आज अभी मेरा लाल जागा नहीं क्या बात है। कई बार इच्छा होती जाकर देखूँ, फिर सोचती मेरे जाने से उसकी नींद में विक्षेप होगा। कच्ची नींद में जाग जायगा तो सिर में पीड़ा हो जायगी। यही सोचकर वह महल में इधर से उधर घूमती रही परन्तु बच्चे के समीप नहीं गयी।"

छप्पय—भई सबनि की बुद्धि भ्रष्ट ईर्ष्या मन आई।
सोवत शिशु कूँ एक दिवस विष दयो खवाई॥
मरयो सौति के पुत्र सबनि मन सुख अति होवे।
इत कृतद्युति निश्चिन्त कुमर मम सुख तें सोवे॥
कच्ची नींद जगे लला, नहिँ अनबन मन होहि कहिँ।
ममतावस अस सोचिकें, सुतहिँ जगावत मातु नहिँ॥

मृत पुत्र के लिये माता-पिता का शोक

[४२३]

पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा
मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजम्
सती दधाना विललाप चित्रधा ॥*
(श्री० भा० ६ स्क १४ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

देर बहुत जब भई मातु मन भय अति लाग्यो ।
नित तो सोवत नेंक आज अब तक नहिँ जाग्यो ॥
धाइ पटाई तुरन्त लला कूँ ले आ प्यारी ।
धाइ जाइ लखि मृतक सुतहिँ, किलकारी मारी ॥
हाय ! अभागिनि लुटि गई, हाय ! दई जिहि का भई ।
हा ! मम छौना ! लाल! सुत ! यों कहि दासी गिर गई ॥

सुख दुख का परस्पर में समान रूप से सम्बन्ध हैं । जिसके संयोग में जितना भी अधिक सुख मिलेगा, उसके वियोग में हमें उतना ही अधिक दुख होगा । दुख का लघुत्व गुरुत्व व्यक्ति के

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महारानी कृतद्युति अपने इकलौते पुत्र को प्राणहीन देखकर तथा पति को अत्यन्त शोकाकुल देखकर, सम्पूर्ण प्रजा तथा मन्त्री आदि के हृदयों में शोक उत्पन्न करती हुई विविध प्रकार से करुण विलाप करने लगी ।"

ऊपर निर्भर नहीं। वह तो सम्बन्ध के ऊपर निर्भर है। हमारा जिससे जितना अधिक स्नेह होगा, उसके वियोग में उतना ही अधिक दुःख होगा। हम तो स्मशान के समीप रहते हैं। नित्य ही मृतक पुरुषों को देखते हैं, कुछ भी दुख नहीं होता क्योंकि उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। कोई कहता है, तो हम उपेक्षा के स्वर में कह देते हैं। अजो, यह तो संसार का व्यवहार है, लगा ही रहता है। सदा कौन जीता रहता है, जो जन्मा है वह मरेगा ही किन्तु जब हमारा कोई सम्बन्धी मरता है, तो हमें दुःख होता है, उससे भी अधिक दुःख तब होता है जब अपने घर का कोई भाई, बन्धु, पिता, चाचा या और निकटतम सम्बन्धी मरते हैं और यदि किसी का युवा प्यारा पुत्र मर जाय, तब तो उसके दुःख का कहना ही क्या ? तब तो ज्ञान, ध्यान, वेदान्त उपासना सब भूलकर आठ-आठ आँसू रोने लगेगा। इससे यही सिद्ध हुआ, दुःख का कारण मृत्यु नहीं है। यदि मृत्यु से ही दुःख होता तो सभी के मरने पर दुःख होना चाहिये था, किन्तु बात ऐसी नहीं, किसी को तो उसके मर जाने पर अत्यधिक प्रसन्नता होती है। दूसरे को अत्यधिक दुःख होता है। यथार्थ में तो दुःख का कारण मोह जनित स्नेह, ममता पूर्वक अत्यधिक आसक्ति जिनकी किसी में आसक्ति नहीं, उन्हें न किसी के मरने पर दुःख होता है न पैदा होने पर सुख। वे तो सभी दशाओं में समान रहते हैं। किन्तु ऐसे समदर्शी ज्ञानी संसार में विरले ही होते हैं। नहीं तो जिसके साथ सदा हिलमिल कर प्रेमपूर्वक रहे हैं। जिनसे प्यार किया है, जिनका प्रेमपूर्वक आलिङ्गन चुम्बन किया है। जिन्हें आखों की पुतली के समान प्रेमपूर्वक पाला है, खिलाया पिलाया और सुलाया है, उनके वियोग में जिनका हृदय न फटे उन्हें या तो वज्र हृदय का समझो या हृदयहीन।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! उन क्रूर चित्तास्त्रियों ने

उस फूल से सुकुमार सुन्दर राजकुमार को निर्दतापूर्वक हलाहल विष दे दिया।"

बच्चा बड़ा ही सुन्दर था। ३-४ वर्ष का हो गया था। तोतली बोली में कोकिल को तरह कूँजता रहता। कभी माँ के गले में लिपट जाता कभी पिता को गोदी में खेलने लगता। उसकी बड़ी भोली भाली सूरत थी। वह जब हँसता, तो ऐसा लगता मानो मुख से मोती झर रहे हों, जब वह अपनी कारी-कारी घुँघराली लटाओं को बखेरकर राजहंस को भाँति लड़खड़ाता हुआ माता की उँगली पकड़कर चलता तो माता के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। माँ बार-बार उसके ऊपर तृण तोरती, उसकी बलैया लेती देवताओं की मनौती मनाती। राई नोन लेकर उसके ऊपर उतार कर अग्नि में डालती। मिरचों को लेकर तवे पर जलाती। मेरे बच्चे को किसी की नजर न लग जाय। न जाने वह कितने जादू टोना करती। अपने हाथ से बच्चे को न्हिलाती धुलाती, बाल सम्हालती। भाँति-भाँति के रङ्ग विरङ्गे वस्त्राभूषण पहिनाकर सजाती। बड़ी-बड़ी आखों में मोटा-मोटा काजल लगाती। माथे पर एक डिठौना लगा देती; फिर बार-बार उसके मुख को देखती छाती से लगाती, मुँह चूमती और फूली नहीं समाती। सजा-बजाकर राजा को गोद में बिठा देती। राजा उसके स्पर्श से स्वर्गीय सुख का अनुभव करते, उसके चुम्बन में उन्हें अमृत से भी बढ़कर सुख मिलता। उसके साथ बालक बन जाते, भाँति-भाँति की क्रीड़ा करते, कभी गोद में खेलते-खेलते सो जाता, तो उसे बड़ी सावधानी से माँ की गोद में दे देते। महारानी बच्चे को सुवर्ण के हिंडोले में लिटाकर लौरियाँ देती।

अन्य रानियाँ भी बच्चे को देखने आया करतीं। अब उनसे स्पष्ट तो मना कैसे कर सकती थीं कि तुम मेरे बच्चे को देखने मत आया करो, किन्तु उसे उनका आना अच्छा नहीं लगता था।

वह कंगाल के द्रव्य के समान बच्चे को बड़े यत्न से छिपाकर रखतीं भरसक ऐसा प्रयत्न करती, कि किसी की दृष्टि उस पर न पड़ने पावे। वह क्षण-क्षण में बच्चे के मुँह को जोहती रहती।

मध्यान्ह का समय था, बच्चा दूध पीकर सो गया था। रानी ने उसे पालने में सुला दिया। मुख पर माँखी न बैठने पावें इस लिये एक बहुत ही पतला रेशमी वस्त्र उसके मुख पर डाल दिया। दासी पंखा कर रही थी। इसी बीच में दो चार रानियाँ आकर बच्चे को झुलाने लगीं। उन्होंने न जाने कहाँ से ऐसा तीक्ष्ण विष मँगा लिया था, जिसके सूँघने से ही आदमी मर जाय। धीरे से दृष्टि बचाकर उन्होंने उस बच्चे पर विष का प्रयोग कर दिया। विष का प्रयोग होते ही सुकुमार कुमार मर गया। उसकी आँखें पथरा गई, शरीर नीला पड़ गया और मुख मलीन तथा तेजोहीन हो गया रानियां बड़ी सावधानी से वस्त्र उढ़ाकर चली गईं। फिर दो आईं चार आईं दासी आई। इस प्रकार नित्य ही जैसे आना जाना बना रहता था बना रहा। बच्चे को निद्रा में देखकर दासियाँ भी हट गईं।

महारानी कृतद्युति वैसे इधर-उधर घूम रही थीं, किन्तु उसका चित्त बच्चे पर ही लगा हुआ था। इस समय नित्य ही बच्चा घड़ी दो घड़ी सो जाया करता था। सोकर उठते ही वह शब्द करता। माँ दौड़कर उसके पास जातीं। शीघ्रता से उठा कर छाती से लगाती और अपने अँचल का दूध पिलाती। उठते ही बच्चा माँ के स्तनों के दूध पीने का आदी पड़ गया था। माता को इससे बड़ा सुख होता था उसके अंचलों में अपने आप पुत्र स्नेह के कारण दूध भर आता था। बच्चा देर तक न उठता तो वह स्वतः बहने भी लगता था।

बच्चे के जब उठने का समय हो गया, तो माँ ने कई बार झाँका बच्चा आज अभी उठा नहीं। कोई बात नहीं, नींद आ गयी है।

सोने दो, सोना तो बच्चे के लिये परम हितकर है। दो घड़ी हुई, तीन हुई चार हुई। अब तो माँ को संदेह होने लगा। बच्चा इतना तो कभी सोता नहीं था। पलङ्ग पर पड़े-पड़े ही महारानी ने पुकारा—"धाय! तू बच्चे के पास है या नहीं?"

धाय ने कहा—"हाँ, महारानीजी! हूँ। कुमारजी अभी सो रहे हैं।"

उसने धीरे से कहा—"आज बहुत देर हो गई, अभी तक जगा नहीं, तू उठा तो ला गोदी में यहीं मैं उसे पलंग पर अपने साथ लिटाऊँगी। आज क्या बात है। इतनी देर तक तो कभी सोता नहीं था।"

रानी की यह बात सुनकर धाय ने धीरे से मुख का वस्त्र उठाया। वस्त्र उठाते ही उसने जो देखा, उसे देखकर वह तो हक्की-बक्की सी रह गई। बच्चे की सब नसें नीली हो गई हैं मुख से झाग निकल रहे हैं, आँखें पथरा गई हैं, वह प्राणशून्य हुआ निर्जीव पड़ा है। उसने बच्चे को धड़कते हुए हृदय से टटोला प्राणों की गति देखी, किन्तु उसके प्राण अब कहाँ? वे तो परलोक प्रयाण कर चुके थे। उसे तो यमराज अपने पाश में बाँधकर यमपुरी ले गया था। अब बच्चा नहीं था। केवल उसका निष्प्राण मृतक शरीर मात्र पालने पर पड़ा था। यह देखकर सहसा धाई हा! मेरे लाल कहकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। धाय का रुदन और पतन का शब्द सुनकर रानी तो सहसा अधीर हो उठी, उसके शंकित चित्त में एक बड़े वेग का धक्का लगा। यन्त्र की भाँति बिना संकल्प के ही वह सहसा पलंग से उठ पड़ी और एक झपट्टे में ही दौड़ती हुई पुत्र के पालने के पास पहुँच गई। वहाँ उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर तो उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े होने लगे। उसका हृदय फटने लगा। वह अपने को सम्हाल न सकी। शोक के कारण वह संज्ञाशून्य

सी बन गयी थी। उसे शरीर की सुधि नहीं रही, मूर्छित होकर वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी।

उस समय उसके सिर का वस्त्र खिसक गया था, बाल खुल गये थे। बालों में लगे मालती के पुष्प इधर-उधर म्लान होकर बिखर रहे थे, मानों वे भी उसके दुख में दुखी होकर रो रहे हों। उसके अंग प्रत्यंग अस्त-व्यस्त हो गये। वह कुररी की भाँति चिल्ला रही थी, वत्स हीन गौ के समान डकरा रही थी। उसकी आँखों से अश्रुओं की दो निरन्तर धारायें बह रही थीं। वह छाती को पीटती जाती थी और हा! मेरे लाल हा! मेरे जीवनाधार कहकर मुक्त कंठ से रुदन कर रही थी।

उसके दुःख और करुणा भरे रुदन की गूँज सम्पूर्ण अन्तःपुर में भर गई। दास-दासी, रानी, प्रतिहार जिन्होंने भी सुना वे ही सब काम छोड़कर रानी के पास दौड़े आये। सभी पुत्रको मरा देखकर रानी के ही समान छाती पीट-पीट कर रोते हुए दुखी होने लगे। रोने चिल्लाने लगे। अब वे सब रानियाँ भी जिन्होंने यह नीच कृत्य किया था वे भी भोली भाली अनजान की भाँति आकर पूछने लगीं—"क्या हुआ! क्या हुआ! हाय! अभी-अभी तो खेल रहा था। हाय! हम लुट गईं। अनाथ हो गईं हमारा सर्वस्व चला गया। यह कहकर वे महारानी कृतद्युति से भी अधिक चिल्ला चिल्लाकर रोने लगीं। महाराज! इन स्त्रियों की लीला भगवान् भी नहीं जान सकते, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है?"

उस समय महाराज-चित्रकेतु राजसभा में बैठे हुए थे। दूसरे राष्ट्र के विषय में सन्धि विग्रह की बात चल रही थी। सहसा अन्तःपुर में करुण क्रन्दन, रुदन की भीषण ध्वनि सुनकर वे सहम गये। इतने में एक दासी दौड़ी-दौड़ी अस्तव्यस्त भाव से पहुँची और रोती हुई बोली—"महाराज! कुमार तो हम

सबको छोड़ गये। इतना कहकर वह दासी मूर्छित होकर वहीं गिर पड़ी।
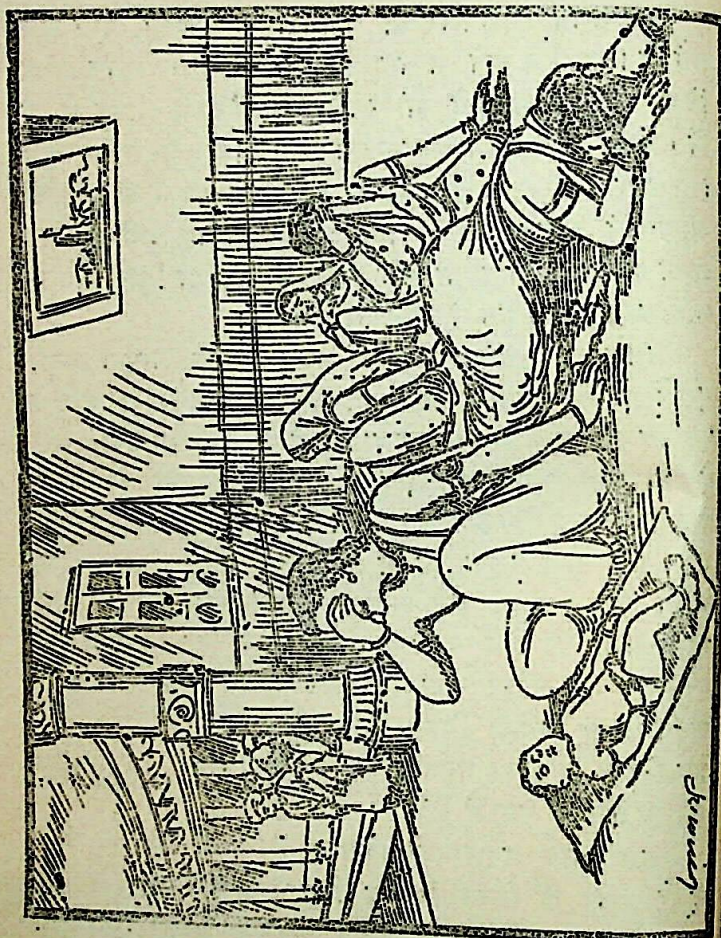
हैं! राजकुमार की मृत्यु हो गई, अरे अभी तो मैं उसे देख कर आया था। राजा का तो सम्पूर्ण शरीर सुन्न पड़ गया। काये

तो एक विन्दु रक्त न मिले। सम्पूर्ण रक्त पानी हो गया। वे सहसा अन्तःपुर की ओर दौड़े किन्तु चल न सके बीच में ही ठोकर खाकर गिर पड़े। मंत्रियों ने दौड़ कर राजा को पकड़ा। वे संज्ञा शून्य हो रहे थे। स्नेहानुबंध के कारण अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त शोक के कारण वे संज्ञा-शून्य से बन गये थे। चलना चाहते थे, किन्तु पैर काम नहीं देते थे। कुछ बोलना चाहते थे, किन्तु वाणी रुद्ध हो गई थी। वे तड़फड़ा रहे थे, बिलबिला रहे थे, वे अन्तःपुर में जाने को उत्सुक थे, किन्तु चलने में असमर्थ थे, वाणी रुद्ध हो जाने से किसी से कह भी नहीं सकते थे, मुझे कोई मेरे मृतक लाल के पास पहुँचा दो। मंत्रियों ने राजा की विवशता का अनुभव किया। कइयों ने मिल कर पकड़ा, राज्य मंत्रियों तथा ब्राह्मणों से घिरे लड़खड़ाते, ठोकर खाते, गिरते पड़ते सभी के कंधों का सहारा लेते, रोते चिल्लाते अधीरता प्रकट करते अन्तःपुर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा बच्चा मरा पड़ा है। उसकी माँ समीप में ही बाल बखेरे कुररी पक्षी की भाँति चिल्ला रही है। अब तो राजा का रहा सहा धैर्य भी छूट गया। वह बच्चे के पैरों के पास कटे वृक्ष की भाँति गिर पड़े। मन्त्रियों ने उन्हें सम्हाला, ब्राह्मण उन्हें घेर कर बैठ गये। रानी सम्मुख मूर्छित पड़ी बिलबिला रही थी। लाखों रानियाँ वहाँ अश्रु बहाती हुई झूठी समवेदना दिखा रही थीं। यद्यपि वे रानियाँ कृतद्युति के ही समान दुखी जान पड़ती थीं। उसी के समान रुदन कर रही थीं। किन्तु उनके रुदन में बड़ी रानी के रुदन में आकाश पाताल का अन्तर था। वह झूठा रुदन था इसका मर्मस्पर्शी हार्दिक दुःख जनित दुख था।

महाराज की आँखों के सम्मुख अँधेरा छा रहा था। उनका मुकुट गिर गया था, बाल बिखर गये थे, वस्त्राभूषण तितिर बितिर हो गये थे। अत्यन्त शोक के कारण गला भर रहा था।

स्त्रियों के करुण क्रन्दन से वहाँ के भवन रोते हुए प्रतीत होते थे। राजा रोना चाहते थे, किन्तु रो नहीं सकते वे चाहते थे मेरे आँसू निकलें, किन्तु बढ़े हुए शोक से अश्रु भी नहीं निकलते थे। वे पाले से दग्ध हुए वृक्ष के समान झुलसे प्रतीत होते थे।

रानी ने जब अपने सदा सुख में रहने वाले पति को इस दुःखावस्था में देखा तब तो उसके शोक का वारापार न रहा। एक ओर मरा हुआ पुत्र पड़ा है, दूसरी ओर उसका सर्वसमर्थ राज-राजेश्वर पति पागलों की भाँति बिना आसन के पृथ्वी पर लोट रहा है। शोक के कारण उसका अंग प्रत्यंग व्याकुल हो रहा है, तो इससे रानी को और भी अधिक कष्ट हुआ। वह पति की ऐसी दशा देखकर शोक सागर में निमग्न हो गई। उस समय उसकी आँखों से जो अश्रु बह रहे थे। वे हरे रंग के से प्रतीत होते थे। उसकी आँखों में जो काजल लगा था, उससे मोती के समान शुभ्र अश्रु काले हो गये थे वे कज्जल कालिमा मिश्रित अश्रु बिन्दु निकल-निकल कर कुंकुम मिश्रित चन्दन से चर्चित कुचों पर पड़ते थे। कालिमा और पीत के मिश्रण से जो हरित वर्ण के अश्रुकण बन जाते थे उनसे रानी के सम्पूर्ण वस्त्र भीग गये थे। पगली की तरह सिर हिला रही थी। उसे आज लाज भी छोड़कर चली गई थी, मंत्रियों और पुरोहितों के सामने भी वह बाल-बखेरे मुँह-खोले रुदन कर रही थी।

श्रीशुक कहते हैं—"राजन्! रानी का रुदन बड़ा ही हृदय-द्रावी था, उसे अभी वर्णन करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है। तनिक विश्राम लेकर मैं उसके रोमांचकारी करुण-विलाप का वर्णन करूँगा।"

छप्पय

दासी कूँ लखि विकल, गई तहँ भगि के रानी।
मृतक-वत्स लखि मातु धेनु सम गिरि डकरानी॥
करुणा क्रन्दन सुन्यो सेविका सब घबराईं।
कपट वेदना प्रकट करत रानी सब आईं॥
समाचार भूपति सुन्यो, हृदय-विदारक अति विकट।
पहुँचे अन्तःपुर तुरत, गिरत-परत सुत शव निकट॥

रानी-कृतद्युति का सुत के निमित्त करुण-क्रंदन

[४२४]

नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते
मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकम्
नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० १४ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

फटै कृतद्युति हियो रुदन भूपति को सुनि-सुनि ।
अस्त-व्यस्त तनु भयो भूमि पै लोटे पुनि-पुनि ॥
कज्जल कालिख मिले अश्रु-मोचन करि रोवे ।
चन्दन-चर्चित पीन-पयोधर सतत भिगोवे ॥
अहो विधाता निर्दयी, तोहि दया नहिं नेक हूँ ।
कहूँ मिलावे प्रेम तें, बिछुरावे दुख तें कहूँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! मृतक-पुत्र के सम्मुख विलाप करती हुई महारानी-कृतद्युति कह रही है—हे पुत्र ! मैं बड़ी हतभागिनी हूँ जो तेरे मधुर मुस्कान-युक्त मुख कमल को प्रसन्न चितवन के सहित नहीं देखती । बेटा ! क्या यथार्थ में तुम्हें दयाहीन-यमराज उस लोक में ले गया जहाँ से लौटकर कोई फिर आता नहीं ? क्योंकि मैं तुम्हारी सुमधुर तोतली-वाणी नहीं सुन रही हूँ ।"

हे भगवान् तू गृहस्थियों को सब दुख देना, किन्तु पुत्रवियोग जनित दुख किसी को मत देना। जिस पुत्र को प्राणों से भी बढ़कर प्यार से पालते हैं, पल-पल पर जिसकी सुविधा का ध्यान माता-पिता रखते हैं, जो प्रेम का सजीव साकार स्वरूप होता है, जो अपनी ही आत्मा नवीन-वपु बनाकर अपनी गोद में क्रीड़ा करती है, जिसे देखने में सुख होता है, चुम्बन में मधुरिमा होती है, स्पर्श में आनन्दोद्रेक होता है। जिसे गोद में लेने से रोम-रोम खिल उठते हैं। जिसकी चंचलता, चपलता, बाल सुलभ-सरलता हृदय में नूतन स्फूर्ति का संचार करती है। जिसकी देह से दिव्यगंध आती है, जिसके सिर सूँघने से सर्वोत्कृष्ट-सुगन्धि का अनुभव होता है। जो रोता हुआ भी सुन्दर लगता है और हँसता हुआ भी हृदय को हँसा देता है। वह पुत्र यदि गृहस्थी के सामने ही माता-पिता के देखते-देखते मर जाय—परलोकवासी बन—जाय तो उसके माता-पिता पर क्या बीतती होगी इसे माता-पिता बिना बने कोई अनुभव कर ही नहीं सकता !

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिसका प्राणों से भी प्यारा, आँखों का तारा, जीवन का सहारा इकलौता-पुत्र मर गया है वह रानी, कृतिद्युति विधाता को धिक्कारती हुई अत्यन्त करुणा के स्वर में रोती हुई असम्बद्ध-प्रलाप करने लगी। उसने रोते-रोते हाथों को फटफटाते हुए कहा—"अरे ओ निर्दयी विधाता ! तुझे तनिक भी दया नहीं है। किसने तुझे सृष्टि का कर्ता बना दिया ? किसने तुझे इतने प्रतिष्ठित-पद पर बिठा दिया। तुझे इतनी भी बुद्धि नहीं, वृद्ध माता-पिता के सामने अबोध-बालकों को बधिकों की तरह—हत्यारों की तरह पकड़ ले जाता है। यदि तुझे मारना ही था तो पैदा क्यों किया ? इस बच्चे को इतना सौन्दर्य— इतना लावण्य क्यों प्रदान किया। तुझे मारना

था, तो मुझे मारता—मुझे अपने लोक ले जाता। बूढ़ों के रहते बच्चे को मार देना, तेरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

तू कह सकता है कि, संसार में ऐसा कोई क्रम नहीं कि पहले बूढ़े ही मरें, जब जिसका काल आ जाता है तब वही मर जाता है। यह सब प्रारब्ध के ऊपर निर्भर है। यदि ऐसी ही बात है—कोई क्रम नहीं, कोई नियम नहीं, तो फिर आवश्यकता क्या है ? यह तो शत्रुता का काम है, कि नन्हें-नन्हें हँसते-खेलते बच्चों को उनके मात-पिताओं की गोद से छीन ले जाना उन्हें वियोग-दुख में तड़फाते रहना।

यदि जोवों के मरने-जोने का कोई क्रम नहीं तो यह स्नेह की फँसरी तैंने पैदा क्यों की ? प्राणियों के हृदय में यह प्रेम का बीज, स्नेह का अंकुर क्यों पैदा कर दिया ? हाय, इससे तो अच्छा यही था—हृदय के स्थान में तू एक पत्थर रख देता। न कोई काहू से प्रेम करता, न उसे वियोग-दुख सहना पड़ता।

तू कह सकता है कि यदि प्राणियों में परस्पर में प्रेम न होता, पति पत्नी को न चाहता, पुत्र माता-पिता को प्यार न करता, मातृहृदय में संतान के प्रति ममत्व न होता तो इस सृष्टि की वृद्धि कैसे होती ? यह सर्ग, अभिवृद्धि को कैसे प्राप्त होता ? "अच्छा तैंने सृष्टि बढ़ाने को ही स्नेह को—प्रेम-पास की रचना की है, तो छोटे-छोटे अबोध बालकों को—जिनसे आगे चलके सृष्टि-वृद्धि हो सकती है, उन्हें—तू क्यों अकाल में ही मार डालता है ?" अरे अपने आप तो विष का पेड़ लगाकर भी नहीं काटते ? निर्दयी तू स्नेहलता को पैदा करके उसका मूलोच्छेदन कर रहा है—उसे जड़-मूल से काट रहा है। कैसी है तेरी यह क्रूरता ! कैसी तेरी यह निष्ठुरता और नीचता है !!

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! वह प्रेम पगली हुई, विरह में कातर बनी—रानी अपने आप ही इस प्रकार असबद्ध-प्रलाप

करती रही। फिर उसने उठकर झट से पालने में से अपने मृतक-शिशु के शव को गोद में उठा लिया, उसकी गर्दन लटक रही थी, मुँह से निकले नीले फैन सूख से गये थे, आँखें-पथराई हुई थीं। अपने फूल से प्यारे-दुलारे बच्चे की ऐसी दशा देख-कर उसे गोदी में लिये हुए ही रानी फिर से गिर पड़ी। बार-बार उसके मुखको चूमती और कहती—"बेटा, मेरा मुन्ना! मुझ अनाथिनी-दीना को छोड़कर कहाँ जा रहे हो? भैया! तुम जहाँ जाओ, अपनी अभागिनी-माँ को साथ लेकर जाओ। पहले तो मेरे तनिक न बोलने पर तू रो पड़ता था। अब मैं कितनी देर से तुम्हें पुकार रही हूँ, बोलता क्यों नहीं? मेरे किस व्यवहार से तू अप्रसन्न हो गया है। अच्छा, मैंने कुछ अपराध किया हो तो मुझसे मत बोलो, किन्तु देख, ये तेरे पिता शोक-संतप्त हुए भूमि में लोट रहे, इनकी ओर तो देख। इनकी गोदी में जाकर क्रीड़ा कर।

बेटा! तू तो मुझे और अपने पिता को बहुत प्यार करता था। मैं जहाँ भी जाती तू मेरे ही साथ जाता था। आज मुझ अभागिनी को छोड़कर तू इस क्रूरपाश-हस्त वाले यमराज के साथ क्यों जा रहा है? इस लोक को रुलाने वाले मृत्यु के साथ मत जा बेटा! देख, हमने तो तुझसे बड़ी-बड़ी आशायें लगा रखी थीं। हम सोचते थे—तू 'पुं' नामक नरक से पार लगा देगा। हम, अपुत्रियों के लिये दुष्पार घोर-नरक को तेरा सहारा लेकर सुगमता से पार कर जाना चाहते थे। तू तो हमें बीच में ही बिलखता हुआ छोड़ गया। मैं तेरी जननी हूँ। ये महाराज तेरे जनक हैं, हमने कभी कष्ट सहा नहीं। तेरे कारण हम आज तत्यन्त-कष्ट में पड़े हुए हैं, हमें कष्ट में पड़े हुए देखकर भी तुझे दया नहीं आती। अब तो बेटा! बहुत सो लिये

अब उठो—उठो हमारे शोक-संतप्त हृदय को अपनी तोतली-शीतल-वाणी सुनाकर शान्त करो।

अच्छा—अच्छा तू आज हम दोनों से ही असन्तुष्ट है, तो देख जिनके साथ तू नित्य भाँति-भाँति के खेल खेला करता था, वे तेरे ये साथी-सखा अन्य बालक तेरे साथ खेलने को उत्सुक खड़े हैं। उनके साथ प्रेमपूर्वक क्रीड़ा कर—अपने खिलौने से इनके साथ खेल। उठ भैया! क्यों आज निष्ठुर बन गया है। बहुत हो गया, सोने की भी सीमा होती है—तुझे बहुत भूख लग रही होगी। तेरे भोजन का समय बीत गया। अब तक तो तू दो-बार खा लेता था, दो-बार मेरे स्तनों का दूध पी लेता था। उठ मेरे लाल! मेरे दूध को पी ले। मुझे अधजली छोड़कर मत जा। तुझे जाना ही है—तो मुझे भी अपने साथ ले चल।

श्रीशुकजी कहते हैं राजन्! वह शोक संतप्ता राजमहिषी पगली हो गई थी। अत्यन्त-शोक के कारण उसकी बुद्धि नष्ट-सी हो गई थी। उसे जड़-चैतन्य का विवेक नहीं रहा था। वह मृत-पुत्र को बार-बार जीवित की भाँति पुकार रही थी। जब बार-बार पुकारने पर भी बच्चे की ओर से कोई उत्तर न मिला, तब तो वह और भी अधिक व्याकुल हुई और रोती हुई निराशा के स्वर में कहने लगी—"मालूम होता है बेटा! तू अब उस लोक में चला गया जहाँ से लौटकर इस शरीर से प्राणी नहीं आते। हाय, तभी तो तेरा सुमधुर मनोहर-मुख म्लान पड़ गया है। तभी तो तेरी प्यारी-प्यारी तोतली-वाणी सुनाई नहीं देती। प्रतीत होता है, यह निर्दयी-यमराज तुझे पकड़ कर बहुत दूर तक ले गया है, जहाँ तू मेरी वाणी सुन न पाता। तभी तू मेरी बातों का कुछ उत्तर नहीं दे रहा है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! रानी बारम्बार करुण-स्वर में विलाप कर रही थी। वह उठती और पुनः पछाड़ खाकर गिर

पड़ती। असम्बद्ध बातें बकने लगती। उसे इस प्रकार विलाप करते देखकर राजा भी ढाह मारकर मुक्त कण्ठ से रुदन करने लगे। राजा के रोने पर सभी मन्त्री, पुरोहित, पुरवासी, नगरवासी और वे क्रूर हृदया रानियाँ भी रोने लगीं। सबके रुदन से वह अंतःपुर भर गया। वहाँ का वायुमण्डल क्षुब्ध हो गया। दशों दिशाओं में शोक छा गया।"

छप्पय

हाय! कहा जिह भयो कुँवर ने नातो तोरयो।
छलकर यमपुर गयो भाग्य मेरो पुनि फोरयो॥
बेटा मोकूँ छोरि अकेलो मति तू जावे।
दूर देश महँ दूध तोइ को तहाँ पिआवे॥
बेटा! सोवत आज तो, देरी तोकूँ ह्वै गई।
यों अतिशय सुत शोक महँ, रानी बहु व्याकुल भई॥

—

शोक संतप्त-नृप के निकट अङ्गिरा और नारदजी

[४२५]

एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् ।
ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १४ अ० ६१ श्लोक)

छप्पय

रानी राजा शोक सिन्धु महँ डूबें पुनि-पुनि ।
आये दैवै धीर अङ्गिरा अरु नारद मुनि ॥
देखे बेसुधि भूप उठें नहिँ विप्र उठावें ।
कहि-कहि सुन्दर युक्ति उभय मुनि यों समुझावें ॥
जीव काल क्रम तें मिलैं, समय पाइ बिछुरें तुरत ।
रचि माया मायेश पुनि, बालकवत् क्रीड़ा करत ॥

संसार में परहित निरत परोपकार व्रती सन्त न हों तो यह सम्पूर्ण जगत् रौरव नरक बन जाय । इस जगत् में आधि, व्याधि चिन्ता, शोक, भय, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश आदि विपत्तियों के अतिरिक्त है ही क्या ? जिह्वा और उपस्थ का क्षणभर का सुख

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार राजा को शोक-संतप्त तथा संज्ञा शून्य हुआ देखकर और यह जानकर कि इसका कोई नायक शिक्षादाता नहीं है, नारदजी को साथ लिये अङ्गिरा मुनि वहाँ आ पहुँचे ।"

है, वह भी परिणाम में दुखद ही है। अधिक जिह्वा लोलुपता करने से अरुचि, मन्दाग्नि, संग्रहणी आदि रोग हो जाते हैं। अधिक काम सेवन से प्रमेह, दौर्बल्य, निर्वीर्यता, क्षय, आदि नाना रोग उत्पन्न होते हैं। जगत् में जिधर देखो उधर ही दुख है। इस दुख से त्राण करने वाले सन्त ही हैं। शोक सागर में डूबते हुए को हाथ पकड़कर उबारने वाले परोपकारी साधु ही हैं। साधु ही अशान्त को शान्त बनाते हैं, रोते को हँसाते हैं, दुखी को सुखी बनाते हैं, मृतक को जीवन दान देते हैं और बीच मँझधार में संसार सागर में डूबने वाले को उस पार लगाते हैं। जिन पर साधु की कृपा हो जाय उसे पार ही समझो।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्! सर्वत्र विचरने वाले, संकल्प से जहाँ चाहें तहाँ पहुँच जाने वाले, सबको घट-घट की जानने वाले भगवान् अंगिरा मुनि ने जब ज्ञान दृष्टि से राजा चित्रकेतु को इस प्रकार दुखित देखा, तो उन्हें दया आ गई। उनके पास नारदजी बैठे थे। अपने भाई नारदजी से अंगिरा-मुनि बोले—"ऋषिवर! चलो, हम तुम्हें एक मोहग्रस्त जीव के दर्शन करा लावें।"

नारदजी बोले—"महाराज! मोहग्रस्त तो सभी संसारी मनुष्य हैं।"

इस पर अंगिरा मुनि बोले—"नहीं नारदजी! हम आप को ऐसे पुरुष के समीप ले चलेंगे जो वास्तव में तो मोक्ष का अधिकारी है, किन्तु वासना निवृत्ति के लिये जिसे हमने ही जान बूझकर मोह में फँसा है। जैसे काँटे को निकालते समय अधिककष्ट होता है, परन्तु निकल जाने पर प्राणी स्वस्थ हो जाता है। उसी प्रकार उसका मोह दूर कराने को हमने उसे संसार की स्थिति का दिग्दर्शन कराया है।"

नारदजी तो ऐसी बातों के लिये उधार खाये ही बैठे रहते

हैं। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है महाराज! चलिये अपनें को तो घूमने का शाप ही है।"

नारदजी की सम्मति पाकर अंगिरा मुनि उन्हें लिये हुए राजा चित्रकेतु के अन्तःपुर में आये। सम्पूर्ण महल रुदन की चीत्कारों से गुञ्जायमान हो रहा था। राजा अपने मृतक पुत्र के समीप संज्ञाहीन हुए पड़े थे। उनके बाल खुले हुए थे, वस्त्राभूषण अस्त व्यस्त हो रहे थे, अङ्गों में धूलि लगी थी, वे पृथ्वी पर ही पड़े थे। हा पुत्र! हा वत्स! कहकर मुक्तकण्ठ से रो रहे थे। उनके समीप ही मृतक पुत्र को गोद में लिये हुए रानी विलाप कर रही थी। बार-बार उसे छाती से चिपटाती चिल्लाती थी। राजा रानी को घेरे हजारों लाखों स्त्री पुरुष खड़े थे। मन्त्री पुरोहित, राजा को घेरे बैठे थे। सबकी आँखों से अविरल अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सभी राजा के दुख में दुखी हो रहे थे किसी को कुछ कहने का साहस नहीं हो रहा था। इतने में ही ये दोनों सर्वज्ञ ज्ञानी मुनि पहुँच गये। मन्त्री और पुरोहित ने साश्रु नयनों से उनका यथोचित समयानुकूल स्वागत सत्कार किया। दोनों मुनि मन्त्री के दिये हुए आसन पर राजा के समीप ही सुखपूर्वक बैठ गये। राजा बार-बार बच्चे को देखते और छटपटाते चिल्लाते—"हाय मेरे लाल! हा मेरे जीवनाधार! तू हमें बीच में छोड़कर कहाँ चला गया? तू तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करता था।"

राजा को इस प्रकार शोक ग्रस्त और मृतक के समान संज्ञाहीन देखकर पागलों के समान प्रलाप करते देखकर भगवान् अंगिरा उनसे बोले—"राजन्! आप जिस जीव के लिये इतना शोक कर रहे हैं, वह बालक आपका इस जन्म में या पहिले किसी जन्म में कौन था और आगामी जन्मों में कौन होगा? तुम्हारा वह कौन है और तुम उसके क्या लगते हो?"

मुनि की ऐसी बात सुनकर राजा आँखें फाड़-फाड़कर मुनि की ओर देख रहे थे, किन्तु उनको तो अपनी देह की भी सुधि-बुधि नहीं थी। मुनि की बात सुनकर भी उन्होंने नहीं सुनी।

राजा को कुछ भी उत्तर न देते देखकर पुरोहित ने कहा—"भगवन्! पूर्व जन्म के संस्कारों से ही इस जन्म में जीवों से सम्बन्ध होता है। यह कुमार पूर्व जन्म में महाराज का कोई घनिष्ट सम्बन्धी रहा होगा इसलिये इस जन्म में इनका पुत्र हुआ। पिता के लिये पुत्र प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है, अतः ये सब बच्चे के पिता हैं और यह इनका पुत्र है। अकाल में इसकी मृत्यु हो गई महाराज के यही एक पुत्र था, अतएव इतना अधिक दुःख होना स्वाभाविक ही है।"

इस पर अंगिरा मुनि बोले—"विप्रवर! राजा का यह भ्रम है कि यह मेरा पुत्र है, अब तक जीता था और अब मर गया है। ब्रह्मन्! यह जगत् प्रवाह अनादि है। इसमें न कोई किसी का पिता है न पुत्र। जैसे गङ्गाजी के प्रवाह में बहते हुए बालुका के कण एक स्थान पर आज एकत्रित हो जाते हैं, कल लहर आई कुछ कण आगे चले गये, कुछ जम गये, कुछ वायु में उड़ गये। कभी हरिद्वार की बालू बहते-बहते प्रयाग आ गई और कभी प्रयाग की बहते-बहते गंगासागर पहुँच गई। यह नित्य प्रवाह अविच्छिन्न गति से बह रहा है। यह स्वाभाविक है। इसके लिये राजा का शोक करना व्यर्थ है। काल-क्रम से जीव कभी इकट्ठे हो जाते हैं, समय आने पर वे बिछुड़ भी जाते हैं—अलग-अलग हो जाते हैं। इसमें न कोई किसी का शत्रु है न मित्र। सब मुँह देखे का मोह है।"

इस पर पुरोहित ने कहा—"महाराज! बिना संस्कार के संयोग वियोग होता नहीं। जिनसे अपना संस्कारवश सम्बन्ध

हो गया है उनके मिलने पर हर्ष और बिछुड़ने पर शोक होता ही है।"

अपनी बात पर बल देते हुए अंगिरा मुनि बोले—"शोक होता है तो अज्ञान से होता है, व्यर्थ होता है। होना नहीं चाहिये संस्कार ही तो प्रवाह में कारण है। देखिये, प्रत्येक पूर्णिमा को गङ्गास्नान का मेला होता है। सहस्रों, लाखों नर-नारी अपनी-अपनी पोटलियाँ बाँध-बाँधकर साथ में लोटा ले-लेकर गंगाजी की ओर जाते हैं, मार्ग में साथी भी मिल जाते हैं, कुछ से घनिष्ठता बढ़ जाती है। वे सब साथ-साथ चलते हैं,साथ-साथ ठहरते हैं। छोटे बच्चे, स्त्रियों से माताजी कहने लगते हैं, सयाने पुरुषों से भाई कहते हैं, बूढ़ों से बाबा कहते हैं, युवक पुरुष बच्चों से कहते हैं—"भैया! अपनी भाभी से अमुक वस्तु तो ले आ। वह भी जाकर कहता है—"भाभी! भाईजी ने अमुक वस्तु माँगी है। वह भी घूँघट की ओट में से पुचकारकर कहती है—"लल्ला ले जाओ। इसे अपने भैयाजी को दे देना। अच्छा देखो, यह लड्डू तुम खा लेना।"

क्षणभर में माता,भाई,भौजाई,बाबा सब कुछ बन गये। अब दूसरे कोई यात्री इस यात्री समूह के साथ कुछ अन्याय करते हैं, समूह की किसी स्त्री के ऊपर व्यंग करते हैं या उनके स्थान के समीप सोते हैं सब मिलकर लड़ते हैं,हमारे स्थान पर तुम क्यों बैठ गये? हमारे आदमियों से तुमने यह बात क्यों कह दी? क्षणभर में अपने हो गये। पूर्णिमा को गंगा स्नान किया, मेला तितिर-बितिर हुआ। कौन किसका भाई और कौन किसकी भौजाई? तुम अपने घर—हम अपने घर। फिर उनकी याद भी नहीं आती। प्याऊ पर बहुत से लोग एकत्रित हो जाते हैं—पानी पिया, सब चले जाते हैं। गंगाजी के घाट पर पार होने को बहुत से पुरुष जाते हैं, पार होते हैं—अपने-अपने गन्तव्य स्थान को चले जाते

हैं। इसमें न कोई किसी का शत्रु है न मित्र, पिता है न पुत्र, मिथ्या-कल्पना है। अज्ञानजनित-मोह है। माया का चक्कर है। ज्ञानी-पुरुष को भूल कर भी इस माया-जाल में न पड़ना चाहिये। उसे नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अविनाशी-श्रीहरि ही की ओर सदा-सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। वे न मरते हैं, न जन्म लेते हैं। उनमें क्षय नहीं, ह्रास नहीं, विकास नहीं। वे तीनों-कालों में सम-भाव से अवस्थित हैं।"

पुरोहित ने कहा—"तब महाराज! जन्य-जनक का सम्बन्ध तो व्यर्थ ही हो गया?"

उपेक्षा के स्वर में मुनि ने कहा—"अजी विप्रवर! कौन जन्य—कौन जनक? ये सब मिथ्या कल्पनायें हैं। एक बीज से से अनेकों बीज उत्पन्न हो जाते हैं, उन अनेकों बीजों में भी पृथक्-पृथक् अनेकों को उत्पन्न करने शक्ति होती है। बहुत बीजों में से तो बीज उत्पन्न होते हैं, बहुतों से नहीं भी होते। यह तो गुण-प्रवाह है। इसमें कोई जन्य-जनक नहीं। इसी प्रकार भगवान् की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनसे फिर और होते तथा नष्ट हो जाते हैं। यह तो गोरख-धन्धा लगा ही रहता है। आत्मा का इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं।"

इतना कहकर मुनि राजा को ही सम्बोधित करके कहने लगे—"राजन्! तुम इतने बुद्धिमान् होकर किसके लिये इतना शोक कर रहे हो? अजी, हम-तुम तथा और भी जो ये इतने चराचर-प्राणी वर्तमान हैं—वे न पहिले कभी थे, न अब हैं और न आगे होंगे। यह सब तो मिथ्या-कल्पना है, गन्धर्वपुर की रचना है। सीपी में रजत का भान है, टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी में सर्प की मिथ्या-प्रतीति है। श्रीहरि ही सत्य हैं, वे ही त्रिकाल-अबाधित हैं। तुम सत्य की शरण लो, मिथ्या कल्पनाओं में मत भटको।"

इस पर पुरोहित बोले—"भगवन्! जब यह सब कुछ है ही नहीं; तो प्राणियों का जीना मरना, सृष्टि का उत्पन्न होना, पालन होना तथा प्रलय हो जाना यह सब क्या है?"

हँसते हुए अङ्गिरा मुनि बोले—"विप्रवर! यह सब उन सर्वभूतपति-अजन्मा-सच्चिदानन्द-परमेश्वर की क्रीड़ा मात्र है। यद्यपि उन्हें कोई इच्छा नहीं है। वे सर्वदा निरीह और निस्पृह हैं, फिर भी बालवत्-खेल-खेल में ही इन खिलौने रूप परतन्त्र-प्राणियों से अन्य-प्राणियों को सृष्टि-सी करते हैं, उन्हीं से पालन कराते हैं और फिर काल-रूप से संहार भी करा लेते हैं। वास्तव में इनका कोई प्रयोजन नहीं। विनोद के अतिरिक्त इनमें कुछ भी सत्यता नहीं। परस्पर में जैसे शतरंज की गोटें—दूसरी गोटों को हराती हैं, जिताती हैं, उन जड़-गोटों में हराने-जिताने की शक्ति कहाँ है! जब तक चैतन्य-जीव बुद्धि द्वारा उन्हें उठाकर न रखे। इस प्रकार एक देह का दूसरे देह से संयोग कराकर—रज वीर्य मिलाकर—तीसरे देह को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार से यह चक्र चलता रहता है। इनमें उत्पन्न कराने वाला ही नित्य है—सत्य है। जो उत्पन्न होते हैं वे तो मिथ्या हैं?"

पुरोहित ने कहा—"भगवन्! यह बात भली प्रकार समझ में आई नहीं।"

अङ्गिरा-मुनि बोले—"देखो! घड़ा, सकोरा, दीपक, ये सब मृतिका से ही तो बनते हैं। चाहे कितनी भी आकृतियाँ पृथक्-पृथक् हो जायँ, उनके कितने भी भिन्न-भिन्न नाम रख दिये जायँ, सब मिथ्या हैं, सब नाशवान् हैं, एकमात्र मृतिका ही सत्य है। वही तीनों-कालों में रहती है। घड़े बनने के पूर्व भी मिट्टी थी, जब वह मिट्टी घड़े के आकार में परिणित हो गई तो उसका मृतिकापन चला नहीं गया, वह ज्यों की त्यों मृतिका बनी रही। घड़े का आकार नष्ट हो गया फिर भी मृत्तिका ही बनी

बनाई है। घड़े के पूर्व भी मिट्टी थी, अन्त में भी मिट्टी ही हो गई। जिस समय नाम रूप की उपाधि से मृत्तिका के स्थान में घट नाम से प्रसिद्ध हो गई उस समय में उसमें से मृत्तिकापन हटा नहीं क्योंकि वह नित्य है। नाम-रूप मिथ्या है। जाति और व्यक्ति पृथक्-पृथक् नहीं। केवल कल्पना से हमने इनमें पृथक्त्व स्थापित कर लिया है। जैसे घटत्वादि जाति तथा घट आदि व्यक्ति का विभाग, व्यवहार में बनावटी है उसी प्रकार यह देह और देही का विभाग अविद्या कल्पित है—किन्तु है अनादि। विवेक के द्वारा ही इस अविद्याजनित कल्पना का नाश किया जा सकता है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! महाराज-चित्रकेतु ने जब अंगिरा मुनि के ऐसे गूढ़-ज्ञानमय वचन सुने, तब तो उन्हें कुछ-कुछ चेत हुआ। राजा विवेकी थे, सत्संगी थे। महापुरुषों की उन्होंने चिरकाल तक श्रद्धा से सेवा की थी, यह तो एक निमित्त-विशेष से उन्हें मोह हो गया था। जब मुनि ने अकाट्य-युक्तियों द्वारा इस दृश्य-प्रपंच को, अज्ञान जनित मोह का कारण बताया—तब तो राजा को कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। उन्हें जो असह्य-मानसिक वेदना हो रही थी, वह कुछ कम हुई। अब तक वे भूमि पर संज्ञाहीन होकर लेट रहे थे, अब वे उठकर बैठ गये। उनका मुख-मलिन हो रहा था, नेत्रों से निरन्तर झर-झर आँसू बह रहे थे। राजा ने अपने हाथों की हथेलियों से अपने लाल-लाल नेत्रों को रगड़कर बहते हुए आँसुओं को पोंछा। सामने बैठे हुए दोनों मुनियों को प्रणाम किया और उनको सम्बोधित करते हुए शोक के कारण रुद्ध हुई वाणी से उनसे कुछ पूछने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

हैं निरीह अखिलेश अजन्मा भूमा श्रीहरि।
शिशु सम खेलें सदा योगमाया आश्रय करि॥
रचें जीव तें जीव जीव तें पुनि मरवावें।
कबहूँ जग करि जगें कबहुँ लय करि सो जावें॥
नहिँ त्रिकाल-बाधित अजर, अमर नित्य प्रभु जगतपति।
तजि तिन पद भ्रमवश करहिँ, अज्ञ जगत महँ मोह रति॥

महामुनि अङ्गिरा द्वारा राजा को ज्ञानोपदेश

[४२६]

सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः ।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः ।
कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १५ अ० २३–२४ श्लो०)

छप्पय

सुनि सचेत नृप भये मुनिनि सन बोले बानी ।
को हैं दोनों आप परम तेजस्वी ज्ञानी ॥
कहैं अङ्गिरा—"भूप ! अङ्गिरा मोकूँ जानों ।
ब्रह्माजी के पुत्र इन्हें नारद मुनि मानों ॥
ज्ञान देन आये उभय, आप शोक सन्तप्त हैं ।
शोभे नाहीं मोह भ्रम, जे नर भगवद्भक्त हैं ॥"

जो—जिनका सहज स्वभाव है यदि वही किसी विशेष कारण वश विपरीत-सा हो जाय, तो कुछ काल में वह स्वयं ही प्रकृति में अवस्थित हो जाता है। जल का सहज स्वभाव है—

---

* महामुनि अङ्गिरा, महाराज चित्रकेतु को उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"हे शूरसेनाधिप राजन् ! जितनी भी ये राज्यादि सम्पत्तियाँ हैं, स्वप्न के द्वारा, माया के द्वारा और मन के द्वारा कल्पित पदार्थों के समान असत्य हैं एवं ये सभी शोक, मोह और भय को देने वाले हैं। गन्धर्व नगरी

शीतल ! यदि वह अग्नि के अथवा ज्येष्ठ-वैशाख के सूर्य को गरमी से उष्ण हो जाय तो कुछ काल में पुनः शीतल हो जायगा। जो सदा साधु सेवा और सत्संग में संलग्न रहते हैं, यदि वे किसी घोर विपत्ति में पड़कर अपने स्वभाव के विरुद्ध आचरण करें तो बोध कराने पर वे फिर सम्हल सकते हैं। साधु सेवा, साधु संग, साधु की शिक्षा कभी व्यर्थ नहीं जाती। अन्तर इतना है, कि पात्र भेद से कहीं तो वह तुरन्त फलवती हो जाती है, कहीं कालान्तर में अपना परिणाम दिखाती है। कुछ बीज तो ऐसे हैं, जो पृथ्वी में पड़ते ही कुछ दिनों में फल-फूल देने लगते हैं और कुछ ऐसे भी बीज हैं कि बहुत समय तक पृथ्वी में ज्यों के त्यों पड़े रहते हैं, समय आने पर—अनुकूल परिस्थिति के होने पर उनमें अंकुर उत्पन्न होता है। राजा चित्रकेतु पुत्र शोक में इतने सन्तप्त हुए कि अपने साधु स्वभाव को भूल ही गये। जब उन्हें भगवान् अंगिरा ने बोध कराया तब वे कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अङ्गिरा-मुनि के तत्व-ज्ञान से परिपूर्ण पुनीत वचनों को सुनकर महाराज चित्रकेतु उनसे पूछने लगे—"महाभाग ! आप दोनों कौन हैं ? कहाँ से पधारे हैं ? इस समय आपने इस दीन-हीन, मति मलीन, पामर-प्राणी पर ऐसी अहैतुकी कृपा कैसे की ? आपकी गूढ़ ज्ञानमय-बातों को सुनकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप कोई महान्

के समान ही ये मिथ्या हैं। न होने पर भी दीखते हैं। दृश्य जगत् के सभी पदार्थों की इस मन ने ही कल्पना कर ली है, क्योंकि जैसे ये दीखते हैं—यह इनका वास्तविक रूप नहीं है। इसलिये कभी दीखते हैं और कभी नहीं दीखते। जो लोग कर्म वासना के द्वारा विषयों का चिन्तन करते हैं, उन्हीं के मन से नाना प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं।"

ज्ञानी, परम भगवद्भक्त, राग-द्वेष, मोह ममता से सर्वथा रहित परम तत्वज्ञानी महान् से भी महान् ऋषि हैं। आप दोनों ने अवधूतों का सा वेष बना रखा है, वास्तव में आप कोई सिद्ध हैं?"

इस पर हँसकर अङ्गिरा मुनि ने कहा—"तुमने हममें ऋषियों के कौन से चिन्ह देखे?"

राजा ने कहा—"प्रभो! चिन्ह न भी हों तो भी आप साधारण भिक्षुक नहीं। आपने अपना यथार्थ स्वरूप छिपा रखा है। बहुत से भगवान् के एकनिष्ठ भगवद्भक्त, ज्ञानी ब्राह्मण अपने स्वरूप को छिपाकर छद्मवेष से इस अवनि पर पर्यटन करते रहते हैं। कभी वे अवधून का वेष बना लेते हैं, कभी अपने को पागल सिड़ी प्रदर्शित करते हैं, कभी उन्मत्त या पिशाच के समान आकृति बना लेते हैं। उनका काम यही होता है कि, दयावश मुझ जैसे मूढमति पुरुषों को अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा संसार से पार पहुँचाते रहते हैं। बहुत से नित्य सिद्धों के तो मैंने नाम सुने हैं, जो सृष्टि के अन्त तक जीवित रहकर लोकों में स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करते रहते हैं। उनमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, नारद, अङ्गिरा, भृगु, देवल, असित, भगवान् वेदव्यास, मार्कण्डेय, गौतम, वसिष्ठ, भगवान् परशुराम, कपिल, श्रीशुक, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातू, कण्व, आरुणि, लोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, अत्रिमुनि, पतंजलि, वेदशिरा, बोधायन मुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कौसल्या, श्रुतदेव और ऋतध्वज इतनों के तो मैं नाम जानता हूँ। इनके अतिरिक्त भी बहुत से सिद्ध महापुरुष हैं जो बिना कर्म बन्धनों के स्वेच्छानुसार शरीर धारण करके इधर उधर घूमा करते हैं। मुझे तो प्रतीत होता है आप इन्हीं में से कोई हैं। अन्य विषयों में आसक्त हुए मुझ मूढ़मति को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने आप

कृपावश पधारे हैं। अज्ञानान्धकार में पड़े हुए मुझ पशु को ज्ञाना-लोक दिखाने आये हैं, संसार सागर में मोह रूपी मगर के मुख में जाते हुए मुझ अभागे को हाथ पकड़कर निकालने के लिये ही बिना बुलाये आप यहाँ आये हैं। मुझे आप अपना परिचय दें और इस विपरीत सागर से उबारें—मैं आप दोनों ही की शरण हूँ।"

राजा की विनीत वाणी सुनकर भगवान् अंगिरा मुनि बोले—"अरे राजन्! तुम मुझे भूल गये क्या ?"

राजा ने कहा—"भगवन्! इस समय पुत्र शोक के कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट-सी हो गई है। अतः हे प्रभो! आप बुरा न मानें, मेरी धृष्टता को क्षमा करें। मुझे कुछ स्मरण तो हो रहा है।"

अङ्गिरा मुनि ने हँसकर कहा—"राजन्! स्मरण करो मैं वही अंगिरा हूँ—जिससे तुमने पुत्र प्रदान करने के निमित्त अत्यधिक आग्रह किया था। तुम्हारे अत्यन्त आग्रह को देखकर मैंने ही तुम्हें यह पुत्र प्रदान किया था।"

यह सुनकर राजा संभ्रम के साथ बोल उठे—"हाँ-हाँ गुरुदेव! अब जान गया। मैं मूढ़ तो आपको संसारी मोह में फँसकर भूल ही गया था, किन्तु आप मुझे नहीं भूले—यही मेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारी बात है। संसारी जीवों का भूल जाना तो स्वाभाविक है, किन्तु आप कैसे भूल सकते हैं। हम जैसे संसारी माया मोह रूप पंक में फँसे प्राणियों की आप जैसे सन्त ही तो गति हैं। ये दूसरे महापुरुष कौन हैं ?"

अंगिरा मुनि बोले—"इनको भी भूल गये? ये मेरे भाई—"ब्रह्मपुत्र देवर्षि भगवान् नारद हैं।"

इतना सुनते ही राजा उठकर दोनों मुनि के चरणों में गिरकर फूट-फूटकर रोते हुए कहने लगे—"हे अकारण कृपा करने

वाले मुनियो ! मुझ मूढ़मति को इस शोक सागर से निकालिये ।"
राजा के ऐसे विनीत वचन सुनकर अत्यन्त ही स्नेह के साथ
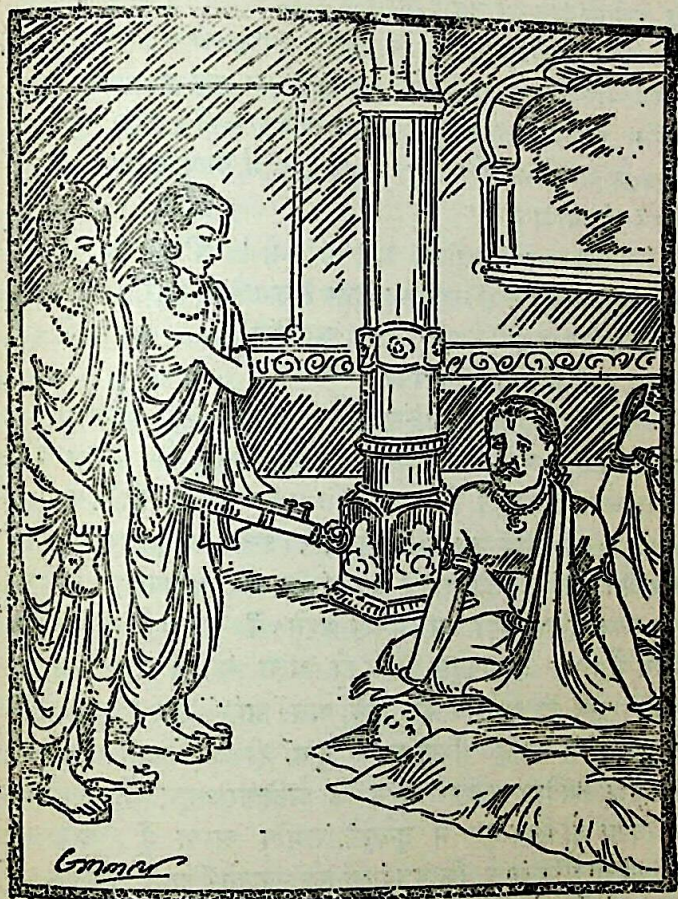
महामुनि अङ्गिरा बोले—"राजन् ! ऐसी अधीरता आपके अनु-
रूप नहीं है । देखिये—कैसी भी विपत्ति क्यों न पड़ जाय, भग-

वद्भक्त कभी विचलित नहीं होते, वे दुख में अधीर नहीं हुआ करते। आप पुत्र शोक मोह रूप दुस्तर अज्ञानान्धकार में निमग्न थे, इसीलिये उससे उद्धार करने के निमित्त हम दोनों यहाँ आये हैं। आप हमारी बातों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करें। आप भगवद्भक्त और प्रभु के प्यारे हैं। आपको इस प्रकार रोना—दुख करना, अपने आपको भूल जाना उचित नहीं। आप परमार्थ तत्व के अधिकारी हैं, उत्तम मुमुक्षु हैं। मैं आपको ज्ञान प्रदान करने ही आया हूँ।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"प्रभो! उसी समय आपने मुझे ज्ञानोपदेश क्यों नहीं कर दिया? तभी ज्ञान हो जाता तो ये दुख के दिवस क्यों देखने पड़ते। इस विपत्ति के सागर में इस प्रकार क्यों निमग्न होना पड़ता?"

इस पर महामुनि अङ्गिरा बोले—"राजन् मैं आया तो था उस समय आपको ज्ञानोपदेश ही करने, किन्तु उस समय मैंने देखा आपकी सम्पूर्ण चित्त की वृत्ति पुत्र प्राप्ति के निमित्त लगी हुई है। उस समय सुत की ही तुम्हारी उत्कट अभिलाषा समझकर मैंने तुम्हें पुत्र ही दिया। उस समय मैं ज्ञानोपदेश देता तो वह व्यर्थ होता, आप उसे ग्रहण करने में असमर्थ होते। इसलिये मैं बिना ज्ञानोपदेश किये ही चला गया। अब आप पुत्र जनित दुख का अनुभव कर चुके, अब आप समझ गये कि, ये पुत्र, दारा आदि परिणाम में दुख ही देने वाले हैं। अब आप ज्ञानोपदेश ग्रहण करने के अधिकारी हुए हैं, इसलिए नारदजी को लिये हुए मैं तुम्हारे समीप आया हूँ। अब तो आपने देख लिया न, कि पुत्रवालों को कितने-कितने कष्ट सहने पड़ते हैं। ये पुत्रादि दूर से देखने में ही सुखकर प्रतीत होते हैं-जैसे दूर से पर्वत अच्छा दीखता है, उसके ऊपर चलो—उसकी कंटकाकीर्ण झाड़ियों में प्रवेश करो, तब उसकी दुर्गमता का पता

चलेगा। देखो, पुत्र के जन्म से मृत्यु पर्यन्त कष्ट-ही-कष्ट है। पैदा होते समय माता को महान् कष्ट। पालन करने में प्रतिपल कष्ट, बड़ा हुआ तो पढ़ाने लिखाने में—विवाह करने में कष्ट। अयोग्य निकल गया तो उसकी बुरी बातों से सदा हृदय जलता रहता है, सुयोग्य हुआ तो सदा उसके शरीर की चिन्ता बनी रहती है। सारांश यह कि निरन्तर उससे कष्ट ही कष्ट है। यदि अकाल में मृत्यु हो गई तब जो कष्ट होता है, उसका अनुभव तो आप कर ही रहे हैं।

जो बातें पुत्र के सम्बन्ध में हैं, वे ही अपने शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाली स्त्री, धन सम्पत्ति, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले भोग्य पदार्थों के विषय में तथा राज्यवैभव, पृथ्वी, राज्य, सेना, कोष, नौकर चाकर, मन्त्री आमात्य तथा बन्धु बान्धव, सुहृद्गण और स्नेहियों के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये। ये सभी चलायमान हैं, अशाश्वत और नाशवान् हैं।"

राजा ने कहा—"भगवन्! ये जो हमें नृत्य गीत करने वाले गायक, सुन्दर-सुन्दर रूप वाले पदार्थ लड्डू—पेड़ा, बरफी, जलेबी, खुरमा, नुक्ती, खीर, मालपुए आदि खाद्य पदार्थ, दुग्ध, दही, घी, रस, आदि पेय पदार्थ, चटनी आदि लेह्य पदार्थ, आम आदि चोस्य वस्तुएँ, भाँति-भाँति के पुष्प, इत्र, सुगन्धित तैल आदि गन्ध वाले पदार्थ, गद्दा, तकिया, कामिनी सुखद वस्त्र आदि सुखकर पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, फिर इनमें सुखानुभूति क्यों होती है?"

यह सुनकर अङ्गिरा मुनि बोले—"राजन्! यही तो भ्रम है। ये जो पदार्थ जिन्हें आप प्रत्यक्ष बता रहे हैं, वास्तव में कुछ हैं ही नहीं। इनका अस्तित्व तक नहीं।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह कैसे हो सकता है, जिन्हें

प्रत्यक्ष देखते हैं, नित्य व्यवहार करते हैं, इनके व्यवहार से सुख-दुख का अनुभव भी होता है, फिर आप इनका अस्तित्व ही क्यों उड़ाये देते हैं। प्रत्यक्ष तो सबसे बड़ा प्रमाण है।"

अंगिरा मुनि ने कहा—"राजन्! आप प्रत्यक्ष किसे कह रहे हैं। जिन चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा आप प्रत्यक्ष करते हैं, वे भी तो असत् हैं। रही देखने की बात सो गन्धर्व नगर भी तो दिखाई देता है, क्या वह सत्य है? इन्द्रधनुष भी तो रंग विरंगा प्रत्यक्ष दीखता है। क्या कोई ऐसा रंग विरङ्गा धनुष आकाश में लटक रहा है? आकाश भी तो नीला-नीला प्रत्यक्ष दीखता है, क्या नील रंग में रंगा कोई बड़ा तवा गगन में लगा हुआ है? रही प्रत्यक्ष अनुभव की बात, सो स्वप्न में तो वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती ही हैं। स्वप्न में हाथी घोड़े प्रत्यक्ष दीखते हैं–वे हमें मिल जायँ तो सुख होता है, हमें कोई कष्ट दे सिर काटे तो दुख होता है, विषय सुख सम्बन्धी कोई वस्तु मिलती है तो उसके उपभोग में प्रत्यक्ष सुख का अनुभव होता है। मन से हम बहुत से मनोरथ करते हैं–तन्मय होकर बड़ी-बड़ी सुखद कल्पनायें करते हैं—ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, यह सुख भोगेंगे, वह आनन्द लूटेंगे। जिस समय मन के रथ पर चढ़कर ये सुखद कल्पनायें करते हैं, सुख होता है यदि दुखद कल्पना करते हैं दुख होता है। गन्धर्व नगर की वस्तुएँ स्वप्न तथा मनोरथ की वस्तुएँ न होने पर भी उनका स्वप्नादि में, अस्तित्वहीन अनित्य-वस्तुओं से संयोग होने पर सुख-दुख का अनुभव तो होता ही है। ये सब मनोकल्पित-मिथ्या-पदार्थ हैं। ये नाशवान् और परिवर्तनशील हैं, क्योंकि बिना वास्तविक-स्वरूप के ही ये सब दिखाई दे रहे हैं। इसीलिये आज कुछ दीखते हैं और कल कुछ।"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन्! ये सुख-दुख सभी को होते हैं—सभी के संचित-कर्मों को बढ़ाते हैं?"

इस पर अंगिरा-मुनि ने कहा—"राजन्! यह बात नहीं। ज्ञानी-पुरुष का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, वह तो—जो भी करता है, वासना रहित होकर करता है। वह तो सोचता है, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के ही अर्थ विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, मेरा इनसे क्या सम्बन्ध? इसीलिए वह किसी कर्म में लिप्त नहीं होता। उसके संचित-क्रियामाण सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो कर्म-वासना में प्रेरित होकर विषयों का चिन्तन करते हैं उन्हीं के मन से नाना प्रकार के कर्म उत्पन्न होते हैं, अतः इन असद्-पदार्थों में से सद्बुद्धि का त्याग कर देना चाहिये। इन अनित्य पदार्थों को भूलकर भी नित्य न समझना चाहिए, परिणाम में दुखद सिद्ध होने वाले विषयों से कभी सुख बुद्धि न करनी चाहिए।"

इस पर आश्चर्य में पड़कर महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"प्रभो! जब जीवात्मा सुख-दुख से रहित है, तो इसें किस कारण से सुखी-दुखी होना पड़ता है?"

इस पर अंगिरा-मुनि बोले—"राजन्! यह जो मन सहित ग्यारह-इन्द्रियों वाला पंचभूतात्मक सूक्ष्म-देह है, यही जीवात्मा को विविध-प्रकार के क्लेश और सन्तापों को भुगाता है। इसीलिए तुम स्वस्थ होकर शान्त-चित्त से विचार करो—इन संसारिक-पदार्थों में से आसक्ति निकाल दो। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं, वैसे ही ये भी सब दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं। रात्रि का स्वप्न तो प्रातःकाल मिथ्या प्रतीत होने लगता है, किन्तु यह जागृत का स्वप्न बिना ज्ञान हुए सत्य-सा ही सदा दिखाई देता है। लोग इस स्वप्न में पड़े-पड़े चौरासी लाख योनियों में घूमते रहते हैं। इसलिये अब तुम बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध करो। यह शरीर—मैं हूँ, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्त्री, पुत्र, परिवार, राज्य, धन, गृह ये सब मेरे हैं—इस बुद्धि को त्याग दो।

आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का ज्ञान, वैराग्यपूर्वक विचार करके इस द्वैत-भ्रम में जो नित्य बुद्धि हो गई है इसको छोड़ दो। इस प्रकार तुम आत्मचिन्तन करोगे, तो समस्त शोक-मोह को भूलकर परम शांति-लाभ करोगे।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान्-अंगिरा-मुनि राजा चित्रकेतु को आत्म और अनात्म-पदार्थ का भेद बताकर चुप हो गए। उनका संकेत पाकर अब भगवान् नारदजी राजा से कुछ कहने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

को कलत्र, को मित्र, पुत्र, को का को भाई।
जगके सब सम्बन्ध अन्तमहँ अति दुखदाई॥
सम्पति सब ऐश्वर्य, बिषय-सुख, राज, कोष, धन।
पृथिवी, सेना, भृत्य, सुहृद् आमात्य बन्धुगन॥
स्वप्न समान अनित्य यें, शोक मोह भय देहिँ दुख।
तजो द्वैत भ्रम-जाल कूँ, तब पाओ नृप नित्य-सुख॥

—०—

श्रीनारदजी द्वारा राजा को शिक्षा-दीक्षा

[४२७]

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम।
यां धारयन्सप्तरात्राद् द्रष्टा सङ्कर्षणम्—प्रभुम् ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १५ अ० २७ श्लोक)

छप्पय

कह्यो अङ्गिरा ज्ञान, फेरि बोले नारद मुनि।
देहुँ मन्त्र उपनिषद् ताहि नृप सावधान सुनि॥
जग के सब सम्बन्ध सङ्ग तनके ई जावें।
माता पत्नी बने पिता पुनि पुत्र कहावें॥
यों कहि मृतक कुमार कूँ, मुनि जीवित-सो करि दयो।
दुखित भूप तें जीव ने, आत्मज्ञान अति प्रिय कह्यो॥

जीव तो कर्माधीन होकर संसार में भटकता है। उसे भटकने में संयोगवश बहुतों से सम्बन्ध हो जाता है, कालान्तर में उनको भूल जाता है। उसे तो कर्मों का फल भोगना है, वासनाओं के पीछे-पीछे चलना है। एक सेठ है, धन के लिये वह नाना देशों में जाता है, नाना लोगों से सम्पर्क रखता है, किसी से क्रय करता है, किसी को विक्रय करता है, किसी के

---

* श्री नारदजी राजा चित्रकेतु से कह रहे हैं—"राजन्! मैं तुम्हें इस मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देता हूँ, तुम इसे संयत चित्त होकर ग्रहण करो। इसे यदि तुम सात रात्रि धारण करोगे तो तुम साक्षात्-सङ्कर्षण प्रभु के दर्शन पाओगे।"

साथ मार्ग में चलता है, किसी के घर ठहरता है और किसी से काम कराता है। कार्य कराते समय तो कैसा स्नेह प्रदर्शित करता है, कैसी घुल-घुलकर मीठी-मीठी बातें करता है। किन्तु जैसे बनिया कभी किसी का मित्र नहीं होता, उसकी मित्रता स्वार्थ की होती है, वैसे ही इस जीव रूप बनिए की भी किसी से मित्रता नहीं। जहाँ यह शरीर छूटा कि सब सम्बन्ध छूटे। अजी, दूसरे जन्म की बातें जाने दो जो वर्षों साथ पढ़े हैं, एक साथ खाये खेले हैं बड़ी घनिष्टता रही है वे सब दस या बीस वर्ष के पश्चात् लम्ब तड़ंगे दाढ़ीमूँछ-वाले होकर आते हैं तो पहिचाने नहीं जाते। फिर दूसरे जन्म में जहाँ शरीर सर्वथा दूसरा हो जाता है, कैसे पहिचान सकते हैं। जहाँ शरीर छूटा सब नाते भी छूट जाते हैं। पिता, पुत्र बन सकता है स्त्री माता बन जाती है, बहिन पत्नी हो जाती है। मनुष्य से पशु बन जाते हैं। कभी देवता हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि संसारी सम्बन्ध स्थाई नहीं। आत्मा से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं, शरीर के साथ इनका सम्बन्ध है। जहाँ शरीर छूटा—गोविन्दाय नमोनमः हो गई।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब भगवान् अंगिरा मुनि उपदेश देकर चुप हो गये, तो राजा उनके मुख की ओर देखता का देखता ही रह गया। उसने कहा—"तब भगवन्! मैं क्या करूँ ?"

इस पर अंगिरा मुनि ने कहा—"राजन्! गुरु के बिना उद्धार नहीं। तुम्हारे सौभाग्य से सर्व विद्याओं के आचार्य ब्रह्म-पुत्र भगवान् नारद जी स्वयं ही यहाँ उपस्थित हैं। तुम इनके शरणापन्न हो जाओ। इनसे मन्त्र दीक्षा ले लो। मन्त्र दीक्षा देकर फिर ये तुम्हें शुभ शोक्षा देंगे। इनकी शिक्षा को शिरोधार्य

करके तुम उसी के अनुसार आचरण करोगे, तो तुम्हें शान्ति की प्राप्ति होगी, तुम मुक्त हो जाओगे।"

भगवान् अंगिरा की आज्ञा मानकर महाराज चित्रकेतु नारद जी के शरणापन्न हुए और उनसे मन्त्र दीक्षा देने की प्रार्थना की। नारद जी कनफूँका साधारण गुरु तो थे ही नहीं कि जो भी सामने आया कान फूँक दिये। चेले के कान में कह दिया—"कान वाती कुरु, तु चेला मैं गुरु" वे तो शिष्य की परीक्षा करके उसके अधिकार को समझकर जैसे को तैसा उपदेश देने वाले गुरु थे। उन्होंने सोचा—"इसे यथार्थ वैराग्य तो है नहीं। अत्यन्त शोक होने के कारण वैराग्य है सो भी तमोगुण के कारण अतः इसे महान तमोगुणी देवी की उपासना बतानी चाहिये। मुक्ति या तो पराकाष्ठा के घोर सत्व में होती है या पराकाष्ठा के तप में। पराकाष्ठा के सतोगुण में तो सत्व मूर्ति भगवान् श्री लक्ष्मीनारायण की उपासना करके असंख्यों शान्त स्वभाव के भगवद्भक्त इस संसार के कर्म बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं और पराकाष्टा के घोर तम में मधु, कैटभ, रावण, हिरण्यकशिपु, तथा हिरण्याक्ष आदि बड़े-बड़े बली असुर राक्षस मुक्त हुए हैं। इसलिये इसे भगवान् की घोर तमोमयी संकर्षण भगवान् की उपासना बतानी चाहिये। वे इसे भक्ति भी देंगे और मुक्ति भी प्रदान कर देंगे।" यह सब सोच समझकर भगवान् नारद राजा से बोले—"देखो राजन्! मैं तुम्हें संकर्षण भगवान् सम्बन्धी मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देता हूँ। इसे धारण करके, बिना सोये यदि तुम सात दिनों तक इसका निरन्तर जप करते रहोगे तो तुम्हें अतिशीघ्र एक सप्ताह में ही भगवान् संकर्षण के दर्शन हो जायँगे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! इस मन्त्रोपनिषद् का फल क्या है?"

नारद जी ने गम्भीर होकर कहा—"महाराज ! इसका फल अमोघ है, यह मेरे द्वारा किये जाने पर कभी व्यर्थ न होगी। इससे तुम्हें परमानन्द की प्राप्ति हो जायगी।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! किसी को इससे परमानन्द की प्राप्ति हुई भी है ?"

इस पर दृढ़ता के स्वर में देवर्षि भगवान् नारद बोले—"हे राजेन्द्र ! पूर्वकाल में उन संकर्षण भगवान् के चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करके, तमोगुण के मूर्ति भगवान् शङ्कर तथा अन्य भी बड़े बड़े योगी सिद्ध आदि इस भेद भ्रम को त्यागकर शीघ्र ही उनकी साम्यातिशयहीन-महामहिमा को प्राप्त हो चुके हैं। इसीलिये इस मन्त्रोपनिषद् का मैं तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। तुम भी इसके प्रभाव से समस्त शोक, मोहजनित कर्म बन्धनों को त्यागकर परमपद को प्रेम पूर्वक प्राप्त हो जाओगे। तुम इस अज्ञान जनित द्वैतभ्रम को त्यागकर सदा के लिये सुख स्वरूप श्रीहरि में ही प्रतिष्ठित हो जाओगे।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार पहिले मन्त्र की महिमा और उसका प्रभाव बताकर नारद जी ने राजा को संकर्षणी मन्त्रोपनिषद् का उपदेश देने का आश्वासन दिया एवं प्रत्यक्ष जीव को बुलाकर भ्रम निवारक शिक्षा दी।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! राजा के लिये भगवान् नारद ने किस मन्त्रोपनिषद् की दीक्षा दी। उसे हमें भी सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! मन्त्र का विषय बड़ा रहस्यमय है, अधिकारी-अनधिकारी सबके सामने कहा नहीं जाता। रहस्य वस्तु को इस ढंग से कहा जाता है, कि केवल संस्कारी अधिकारी ही समझ सकें, अनाधिकारियों की बुद्धि में बैठे ही नहीं। वे उसे गप्प-शप्प समझकर छोड़ ही दे। इस चालू

कथा प्रसंग में मैं उसे कहना नहीं चाहता। जब पृथक् मन्त्र उपासना प्रकरण का प्रसंग होगा तो यथास्थान समयानुसार इसका वर्णन किया जायगा। आगे फिर जैसी आपकी आज्ञा।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"नहीं सूतजी! आप जैसे उचित समझें यही ठीक है। अच्छा, दीक्षा की बात तो रहस्यमय है, नारदजी ने राजा को शिक्षा क्या दी। उसे तो सुनाइये।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन्! नारद जी ने उसी प्रकार प्रत्यक्ष करके जीव से राजा को शिक्षा दिलाई, जिस प्रकार भगवान् ने शोकातुर अर्जुन को अभिमन्यु से शिक्षा दिलाई थी।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने अर्जुन को कैसे शिक्षा दिलाई थी। पहिले इस प्रसंग को हमें सुनाइये, फिर नारदोक्त उपदेश का वर्णन कीजिये। जिससे समझने में सरलता और सुगमता हो।"

यह सुनकर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"भगवन्! आप सब कथा के बड़े प्रेमी और रसिक हैं। आप कथा की सब पद्धति को जानते हैं। कौन-सी बात किस प्रकार कहने पर सरल और हृदयग्राही बन सकती है, इसका आपको अत्यधिक अनुभव है। अच्छी बात है पहिले मैं आपको उसी प्रसंग को सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन को अपना अभिमन्यु सबसे अधिक प्यारा था। वह श्रीकृष्ण की भगिनी सुभद्रा से उत्पन्न हुआ था। बड़ा ही सुन्दर, सुशील, मातृ-पितृभक्त था। अर्जुन का वह प्रतिरूप ही था। सुन्दरता में, गुणों में, शील-सदाचार में तथा अस्त्र-शस्त्र विद्या में वह अर्जुन से भी कुछ अंशों में बढ़ा-चढ़ा था। अर्जुन का तो वह बाहिरी प्राण ही था। उसे जब वे देखते तभी उनका हृदय खिल उठता। यद्यपि अब वह युवा हो गया था, उसका विवाह भी हो चुका था फिर भी अर्जुन

उसे अत्यन्त प्यार से बालकों की भाँति गोदी में बिठाकर खूब चूमते पुचकारते। वह भी सङ्कोच और लज्जा से सिर नीचा किये हुए सङ्कोची शिशु के समान चुपचाप पिता की गोद में बैठा रहता। उस समय कोई उसे देखता तो समझ भी नहीं सकता था कि यह त्रैलोक्य विजयी शूरवीर है। जैसा वह धर्मराज का आदर करता था वैसा ही उनके सभी भाइयों का आदर करता था। पाँचों पांडवों में जो कोई भी उससे जो कार्य करने को कहता उसे वह विना उत्तर दिये तुरन्त करता। सभी का उस पर समान स्नेह था, किन्तु अर्जुन की तो वह आत्मा ही था।

महाभारत के युद्ध में शत्रुओं ने उसे अन्याय से रण के नियम के विरुद्ध घेरकर मार डाला। इससे पाँचों पांडवों को ही नहीं समस्त सेना को महान दुख हुआ। अर्जुन की दशा तो अत्यन्त सोचनीय हो गई। उसने अपना धनुष उतारकर रख दिया, तूणीरों को शरीर से पृथक् कर दिया। श्रीकृष्ण के सम्मुख घुटने टेक दिये और नेत्रों से शोकाश्रु बहाते हुए कहने लगा—"प्रभो! बस हो गया। अब मैं युद्ध न करूँगा। अब युद्ध करूँ भी तो किसके लिये। पुत्र को मरवाकर उसके रक्त से रञ्जित राज्य को लेने की मेरी इच्छा नहीं है।"

अर्जुन के वचनों में दृढ़ता थी, यह युद्धारम्भ में की हुई शङ्का के समान नहीं थी। जिसे भगवान् ने गीता का ज्ञान देकर शान्त कर दिया था। यह निश्चय तो अटल था। भगवान् ने भाँति-भाँति से उसे समझाया, अनेक दृष्टान्त दिये, मृत्यु को अनिवार्य बताया, कर्मों की गहनगति समझायी, प्रारब्ध की ध्रुवता पर बल दिया, सब कुछ किया, पूरी शक्ति लगाकर समझाना चाहा, किन्तु अर्जुन अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। उन्होंने युद्ध करना स्वीकार नहीं किया।"

तब सर्वान्तर्यामी भगवान् बोले—"अच्छी बात है, तू चाहता क्या है ? किसी भी प्रकार युद्ध करेगा।"

अर्जुन ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"हाँ, यदि अभिमन्यु मुझे मिल जाय, तो मैं युद्ध कर सकता हूँ। युद्ध ही क्या, आप जो भी आज्ञा करेंगे वही करूँगा।"

तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात, चलो मैं तुम्हें अभिमन्यु से मिलाये देता हूँ, अब उसे लाना न लाना तुम्हारे अधिकार की बात है।"

चौंककर अर्जुन ने कहा—"हाँ, भगवन्! एक बार आप मुझे उससे मिला भर दें। फिर उसे लाना मनाना तो मेरे ऊपर रहा। फिर आपको कुछ भी करना न होगा। आप भले ही उससे एक शब्द भी न कहें। उसे मुझे दिखा भर दें। साक्षात् भेंट करा दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, चलो।" यह कहकर भगवान् ने अपना दिव्य रथ तैयार किया। अर्जुन को उसमें बिठाया। आज रथ पृथ्वी पर नहीं चलता था वायुवेग से भी कई गुना शीघ्र वह उड़ रहा था मन के समान वह जा रहा था। कुछ ही क्षणों में वह सात समुद्र, सात द्वीप आदि को लाँघता हुआ लोकालोक पर्वत के भी उस पार पहुँचा। वहाँ न यह पृथ्वी थी न प्रकाश। एक दिव्य सुवर्णमयी घोर अन्धकार से आवृत भूमि थी भगवान् के चक्र-सुदर्शन ने उस तम को मार भगाया। वहाँ अर्जुन ने देखा एक बहुत बड़ा चक्र बड़े वेग से घूम रहा है। उस चक्र के आस पास बहुत से सुन्दर-सुन्दर बालक जैसे खेल-खेल में दौड़ा करते हैं वैसे दौड़ रहे हैं। भगवान् ने कहा—"अर्जुन! इन बालकों में से तू अपने पुत्र अभिमन्यु को पहिचान ले।" यह कहकर भगवान् उस घूमते हुए चक्र के समीप बैठ गये।

अर्जुन ने देखा, उस चक्र के चारों ओर घूमने वाले बच्चे एक से एक सुन्दर हैं, वे सभी चञ्चल, हँसमुख और वस्त्राभूपणों से सुसज्जित हैं। कोई किसी की ओर देखता ही नहीं। अपनी ही धुनि में दौड़े जा रहे हैं, वे न तो दौड़ने से थकते हैं न हाँफते हैं। अर्जुन उन सबको बड़े ध्यान से देखते रहे। कुछ काल में उन्होंने क्या देखा कि अभिमन्यु भी उनमें सजा-बजा हँसता हुआ आ रहा है। किन्तु उसने अर्जुन को देखा भी, फिर भी बिना बोले सर्र से निकल गया। अर्जुन दौड़ा, किन्तु उस बच्चे को कैसे पा सकता था।"

भगवान् ने कहा—"भाई! देख लिया तुमने पुत्र का प्रेम?"

अर्जुन ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा—"भगवन्! उसने मुझे भली-भाँति देखा नहीं। देख लेता तो अवश्य खड़ा हो जाता।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, वह तो घूम-फिरकर फिर आवेगा। अब के सही।"

कुछ काल में अभिमन्यु फिर आया। अब तो अर्जुन सन्नद्ध थे। दौड़कर उन्होंने अभिमन्यु को पकड़ ही तो लिया और बड़े प्यार से बोले—"बेटा!"

अभिमन्यु ने प्रणाम की तो कौन कहे अर्जुन को देखा तक नहीं। बल पूर्वक अपना वस्त्र छुड़ाकर भाग गया।"

भगवान् ने कहा—"और भी कुछ शङ्का रह गई क्या?"

अर्जुन का मुख फक्क पड़ गया। भगवान् के सम्मुख उसे बड़ी लज्जा आ रही थी। लजाते हुए वह बोला—"भगवन्! एक बार और देख लेने दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, एक बार क्यों दस बार देखो उसे तो इसी के चक्कर काटने हैं।"

कुछ काल पश्चात् अभिमन्यु फिर दीखा। अब के अर्जुन ने उसे कसकर पकड़ लिया और रोते हुए बोले—"अरे, बेटा! तू निष्ठुर क्यों बन गया है। पहिले तो तू मुझसे बड़ा प्यार करता था। मेरा कितना आदर करता था। अब मेरी ओर देखता भी नहीं। ऐसा निष्ठुर क्यों हो गया है मेरे लाल! मैं तेरे बिना जीऊँगा नहीं। तू ही मेरे जीवन का सहारा है, मुझ भटकते हुए अन्धे की तू ही लकड़ी है। तू अब इस खेल को छोड़ दे और मेरे साथ चल। देख तेरी माता अत्यन्त दुखी है, उसने कुछ खाया भी नहीं। तेरे ताऊ, चाचा, मामा, नाना सभी विकल हैं, एक तेरे इन कारे मामा को जोड़कर।

यह सुनकर अभिमन्यु ने अर्जुन को घुड़ककर कहा—"चल हट! आया बड़ा बाप बनने वाला। तुझे पता है, कै बार तू मेरा बेटा बन चुका है। कै बार मैं तेरा बाप बन चुका हूँ। अरे भैया! यह तो गुण प्रवाह है इसमें कौन किसका बाप कौन किसका बेटा! जब तक शरीर है तब तक सम्बन्ध है जब तक गोल साँचे में ढला है तब तक रुपया है। गलाकर छल्ला बना लो कोई रुपया न कहेगा। कड़े, छड़े, बिछुआ बना लो उसी नाम का हो जायगा।। इस संसार चक्र में तो ऐसे ही क्षणिक सम्बन्ध है। मेरे खेल में विघ्न क्यों डालता है? भाग जा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर अभिमन्यु शीघ्रता से अपना शरीर छुड़ाकर भाग गया। अर्जुन का मोह भंग हुआ और आकर फिर से युद्ध करने लगा। सो मुनियो! इसी प्रकार नारदजी ने भी महाराज चित्रकेतु के मरे हुए पुत्र के जीवात्मा को अपनी योग शक्ति से प्रत्यक्ष बुलाया। लड़का जीवित के समान उठकर बैठ गया। तब सबको सुनाते हुए नारद जी उससे कहने लगे—"हे जीवात्मन्! देखो, ये तुम्हारे पिता हैं, ये तुम्हारी स्नेहमयी माता हैं। ये तुम्हारी मौसियाँ हैं,

ये तुम्हारे सब स्वजन हैं। बन्धु बान्धव हैं। तुम्हारे लिये ये अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं। सभी तुम्हारे वियोग में अत्यन्त दुखी हैं। सभी रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। भैया ! तुम इनके ऊपर दया करो। अपने शरीर में पुनः प्रवेश करके शेष आयु में इन्हें सुखी करो। ये महाराज चित्रकेतु अब वृद्ध भी हो चले हैं। ये अति शीघ्र तुम्हें राज्य सिंहासन सौंप देंगे। पृथ्वी का एक छत्र सम्राट् बना देंगे। तुम्हारे ऊपर छत्र लग जायगा। चँवर ढुलने लगेंगे। तुम सबके ऊपर शासन करना। सब तुम्हारी आज्ञा में रहेंगे। इससे तुम्हारे माता-पिता को भी आन्तरिक सुख होगा। ये तुम्हारे आश्रय में रहने वाले मन्त्री पुरोहित भृत्य सब आनन्दित हो जायेंगे। इस पर तुम पिता के दिये हुए भोगों को भोगो और इन सबको प्रमुदित करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नारदजी की ऐसी बात सुन कर वह जीवात्मा ठहाका मारकर बड़े जोरों से खिलखिलाकर हँस पड़ा। और हँसते-हँसते सबको सुनाकर नारदजी की प्रेरणा से कुछ कहने को उद्यत हुआ।"

छप्पय

नारद बोले—जीव ! पिता मात ये तेरे।
शोकाकुल अति भये पकरें पग रोवें मेरे॥
जीवित ह्वै के राज्य-विषय सब भोगो सुख तें।
अति ई दोनों विकल छुड़ाओ इन कूँ दुख ते॥
सुनि हँसि बोल्यो जीव वह, काके को पितु-मात हैं।
सब मुँह देखे के स्वजन, सुहृद बंन्धु सुत तात हैं॥

मृत पुत्रके जीवात्मा द्वारा शिक्षा

[४२८]

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः ।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

जीव नित्य अति सूक्ष्म प्रकाशक स्वयं निरंजन ।
माया के गुण रोपि करे योगिनि मनरंजन ॥
मायिक गुण सम्बन्ध भयो दीखे मदमातो ।
जब तक रहे शरीर माहिँ तब तक ई नातो ॥
अगनित योनिन महँ भ्रमें, काकूँ निज पर कहि गने ।
कबहूँ नर, पशु देव बनि, पिता, पुत्र भ्राता बने ॥

जिनसे हम प्यार करते हैं और उनसे स्वयं भी प्यार करने की आशा रखते हैं, यदि वे हमारे प्रेमको ठुकरा दें, वे हमारी सर्वदा उपेक्षा कर दें, तो प्रायः ऐसे समय वैराग्य हो जाता है। प्रायः इसलिये कहा कि उन्हीं को वैराग्य होता है, जिनके अन्दर कुछ आध्यात्मिक संस्कार रहते हैं। जो माया मोह में अत्यन्त ग्रसित हैं, उन्हे बार-बार तिरस्कृत और अपमानित होने हर भी वैराग्य

---

* नारदजी द्वारा बुलाये जाने पर राजा के मृत-पुत्र का जीवात्मा कह रहा है—"देखिये, जैसे—सोना, चाँदी, अन्नादि क्रय-विक्रय की वस्तुएँ एक दूसरे के पास, दूसरे से तीसरे के पास घूमती रहती हैं, उसी प्रकार कर्मवश जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में घूमता रहता है।"

नहीं होता । उनकी असद् में सद्बुद्धि बनी ही रहती है। यह जीव माया मोह में ऐसा ग्रसित हो गया है, कि स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा इसका छूटना अत्यन्त ही कठिन है। श्रीहरि ही कृपा करें संत रूप में स्वयं ही आकर दयावश मार्ग बता दें, तब तो इस संसार चक्र से यह प्राणी छूट सकता है। नहीं तो बड़ा कठिन यह काल चक्र है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब नारदजी ने राजकुमार के प्रेतात्मा को पुनः बुलाकर उससे जीवित होने को कहा और मात-पिता को सुखी बनाने का प्रस्ताव किया; तो वह हँसकर कहने लगा—"भगवन्! आप इन्हें मेरे मात-पिता किस कारण से कह रहे हैं?"

नारदजी ने कहा—"अरे भाई! तुम्हें इन्होंने उत्पन्न किया था। ये तुम्हारे जनक हैं, ये तुम्हारी जननी हैं।"

जीवात्मा ने कहा—"भगवन्! यदि उत्पन्न करने से ही माता-पिता हैं, तो मुझे इस समय सहस्रों जन्मों की स्मृति हो रही है। सहस्रो योनियों में मैंने अनेकों बार जन्म ग्रहण किये हैं। उन सब योनियों में मेरे माता-पिता हुए हैं। किस-किस जन्म के किस-किस योनि वालों से मैं माता-पिता कहूँ। फिर मैंने भी अनेक योनियों में अनेकों संताने उत्पन्न की हैं। ये भी अनेकों बार मेरे पुत्र-पुत्री बने हैं। तब तो मैं भी इनका पिता हुआ। सब योनियों में जीव के एक ही माता, पिता, बन्धु, भृत्य होते हों सो बात नहीं। कभी पिता पुत्र बन जाता है, भ्राता साला बन जाता है, माता पत्नी हो जाती है। जाति वाले विजाती में जन्म ले लेते हैं। शत्रु मित्र बन जाते हैं। साराँश यह कि ज्ञाति, शत्रु, मित्र, उदासीन, बन्धु-बान्धव ये सब बदलते रहते हैं, उलटते-पलटते रहते हैं।

नारदजी ने कहा—"उलटने-पलटने से क्या हुआ इस जन्म में तो तुम्हारे माता-पिता ही हैं।"

जीवात्मा ने कहा—"भगवन्! हैं नहीं, थे कहिये। जब तक जिसका सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसका उनमें ममत्व भी रहता है। ये सभी सम्बन्ध तो शरीर के साथ हैं। जहाँ शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हुआ तहाँ ममत्व भी छूट जाता है। जैसे रुपया, पैसा, मोहर, निष्क आदि सुवर्ण चाँदी के सिक्के हैं। जब तक हमारे पास हैं हम कहते हैं हमारे हैं, उन्हें प्राणों से भी अधिक सम्हाल कर रखते हैं। शक्ति भर खर्च नहीं करते। जहाँ हमारे पास से चले गये, हमारा उनमें से ममत्व भी चला गया। अब दूसरे के पास जाकर वे खो जायँ, टूट जायँ, नष्ट हो जायँ हमें कोई चिन्ता नहीं। हमारा एक घर है जब तक हमारे नाम हैं, हमारा उसमें ममत्व है, तभी तक उसके टूटने फूटने जीर्ण होने की चिन्ता है। जहाँ वह दूसरों के अधिकार में चला गया हमारे जाने वह टूट जाय, हम उसे अपना कहते ही नहीं। इसी प्रकार जहाँ शरीर का अन्त हुआ पुराने सम्बन्धों का भी अन्त हो जाता है। अब मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।

वास्तव में देखा जाय तो जीव तो नित्य, शुद्ध-बुद्ध जन्म मरण आदि से रहित है। स्वयं प्रकाश होने के कारण सबका अधिष्ठान है। यह सर्व समर्थ है, मायिक गुणों से स्वयं ही इस दृश्य प्रपंच की रचना करके उसमें स्वयं ही प्रविष्ट हो जाता है। जैसे मकड़ी अपने मुख से जाला निकालकर उसे बुनकर उसी में अपने आप किलोल करती रहती है। आत्म-स्वरूप से यह अकर्ता है, केवल बुद्धि का साक्षीमात्र है। इसके लिये निजत्व परत्व का भेद भाव नहीं। प्रियत्व, अप्रियत्व, शत्रुता मित्रता आदि से यह रहित है। आत्मा किसी के बन्धन में नहीं यह तो कार्य कारण का साक्षी मात्र है। जो कर्ता होता है वह

क्रिया के फलों को ग्रहण करता है। यह तो शुद्ध-बुद्ध होने से गुण दोष तथा क्रिया फल से शून्य रहता है। केवल उदासीन भाव से स्थित रहता है। मेरा इनका इतने ही दिन का सम्बन्ध था। सम्बन्ध अब समाप्त हो गया। अब ये कितना भी रोवें, कितने भी चिल्लावें मैं लौट नहीं सकता। काल की गति दुर्निवार है। विधता के विधान अकाट्य हैं, उनमें न राई भर घट सकता है, न तिल भर बढ़ सकता है। आप सर्व समर्थ हैं। आपने अपनी योग-शक्ति से मुझे बुला लिया, अब मुझे जानेकी आज्ञा मिलनी चाहिये।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् इतना कहकर वह जीवात्मा चला गया। राजपुत्र का शरीर पुनः मृतकवत् बन गया। अब तो राजा को चेत हुआ, 'अरे' जिसके लिये मैं इतना शोक कर रहा हूँ, जिसके निमित्त मैं इतना अधीर हो रहा हूँ, वह मुझसे इतना उदासीन है। मेरे मोह के लिये धिक्कार है, अब मैं इस शोक, मोह और दुख के मूल भूत ममत्व को त्याग दूँगा अपने चित्त को समत्व में स्थापित करके इन महर्षि के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करूँगा। इस प्रकार निश्चय करके राजा ने अपने बहते हुए आँसुओं को पोंछ डाला। देह की धूलि झाड़ी बालों को सम्हाला और बालक के प्रति जो स्नेह बन्धन बँध गया था उसे काट डाला और शोक रहित होकर नारदजी के चरणों की शरण गही।

राजा ने मुनियों से पूछा—"हे महर्षियो! अब मुझे क्या करना चाहिये?"

इस पर अंगिरा मुनि ने कहा—"राजन्! उस मृतक बालक का सर्व प्रथम और्ध्व दैहिक संस्कार होना चाहिए।"

मुनि की आज्ञा पाकर राजा ने और उनके सगोत्रियों ने उस मृतक बालक के देह का उस समय जैसा होना चाहिए तथा

जैसी शास्त्रीय विधि है. उसके अनुसार-और्ध्व दैहिक संस्कार किया। जैसा-जैसा कुलपुरोहित तथा ब्राह्मणों ने बताया वैसा-वैसा कृत्य धर्मात्मा राजा ने किया।"

जब बच्चे का संस्कार हो गया, तब उन विष देने वाली रानियों को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ। बालक ने जो मृतक शरीर में प्रविष्ट होकर गूढ़ ज्ञान दिया था, उसका प्रभाव सभी पर पड़ा था, किन्तु उन रानियों को तो अत्यधिक आत्मग्लनि हुई। वैसे वे सब हृदय की बुरी नहीं थीं। सभी सत्कुलोत्पन्ना थी परिस्थिति ने उनकी बुद्धि विपरीत कर दी। इर्ष्या ने, सौतिया डाह ने उन्हें क्रूर निष्ठुर प्रकिति का बना दिया। अब वैर का कारण ही समाप्त हो गया, तो उनका हृदय भी उन्हें टोंचने लगा।

उन सब ने मुनियों के जाकर पैर पकड़े और रोते २ कहा—"प्रभो! हम अभागिनियों के पाप का कोई प्रायश्चित्त हो सकता है क्या?"

श्री शुकदेवजो कहते हैं—राजन्! मुनि तो सर्वज्ञ थे, सब कुछ जानते थे, फिर भी पाप प्रकट करने से बहुत कुछ कम हो जाता है। बहुत-सा पाप निन्दा करने वालों पर चला जाता है। अतः उनके पाप को बाँटने के निमित्त, अंगिरा मुनि ने पूछा—"तुमसे कौन-सा ऐसा पाप बन गया है, जिसके लिये तुम इतनी लज्जित और दुखी हो?"

यह सुनकर उनमें से जो सब से वाचाल थी वह बोली—"प्रभो! आप सब कुछ जानते हुए भी हमसे पूछ रहे हैं। अतः हम बताती हैं। इस बच्चे को ईर्ष्यावश हमने ही विष देकर मार डाला है। हमारी सबकी सम्मति से ही इसे विष दिया गया है, अतः हम सब समान रूप से पाप की भागिनी हैं। यदि हमारे इस पाप का कोई प्रायश्चित्त हो सकता हो, तो कृपा करके हमें

बतावें। आप जो भी आज्ञा करेंगे वही हम करने को तैयार हैं।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! उन रानियों की बात सुनकर मुनिवर उनके पाप का प्रायश्चित्त सोचने लगे।"

छप्पय

निज पर तें है रहित आतमा नित्य निरन्तर।
अक्रिय त्रिगुण विहीन सर्वगत अजर शुद्ध तर॥
साक्षी सर्व स्वतन्त्र दोष गुण हू ते न्यारो।
कर्ता भोक्ता नहीं दीपवत करहि उजारो॥
मृत कुमार को आतमा, यों कहि अन्तर्हित भयो।
सुनी ज्ञानमय बात जब, तब नृपको भ्रम भगि गयो॥

विष देने वाली रानियों द्वारा प्रायश्चित्त

[४२९]

बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः ।
बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम् ।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

जिन रानिनि विष दयो तिननि हू अति दुख कीन्हों ।
पूर्वजन्म को वैर विमाता बनिके लीन्हों ॥
मुनि के पकरे पाँइ पाप निज सत्य सुनायो ।
सब सुनि प्रायश्चित्त सबनि तें संविधि करायो ॥
हतप्रभ लज्जित नारि सब, यमुनाजी में न्हाइके ।
पछिताई कल्मष रहित, भईं कृष्ण गुन गाइके ॥

पाप चाहे संकल्प पूर्वक हो, इच्छा से हो, अनिच्छा से हो उसका फल तो भोगना ही पड़ता है, अतः कभी भूलकर भी पाप न करना चाहिये । सदा इस बात की चेष्टा करते रहना चाहिये कि हमारे द्वारा असावधानी से भी पाप न होने पावे ।

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"हे महाराज ! वे जो विष देने वाली रानियाँ थीं, वे बालहत्या के कारण हतप्रभ और लज्जित हो रही थीं । उन्होंने महामुनि अङ्गिराजी के भाषण को स्मरण करके, ब्राह्मणों ने जैसे बताया वैसे ही यमुना के किनारे बालहत्या का प्रायश्चित्त किया ।

साथ ही पापी की निन्दा भी न करनी चाहिए। हम जैसी भावना करते हैं, जैसे विचारों में निमग्न रहते हैं वैसे ही हो जाते हैं। सोच लेना चाहिए सभी स्वकर्म सूत्रों में बँधकर विवश हुए कार्य कर रहे हैं। अच्छे बुरे सभी काम पूर्वजन्मों के संस्कारों द्वारा-प्रारब्ध से प्रेरित होकर प्राणी करता है। हम उसकी निन्दा करके उसके पापों में भाग क्यों लगावें। क्यों मन का उनसे संसर्ग होने दें। इस सबको भगवान् की क्रीड़ा ही क्यों न समझें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब वे विष देने वाली रानियाँ अपने कर्म पर अत्यन्त लज्जित हुईं, तब महामुनि अङ्गिरा ने उनके पाप का प्रायश्चित्त बताया। उसके कराने की विधि ब्राह्मणों को समझाई वे सबकी सब महलों को छोड़कर कल-कल निनादिनी यमभगिनी कृष्ण प्रिया कालिन्दी के तट पर जाकर व्रत उपवास करने लगीं और ब्राह्मणों के बताये हुए प्रायश्चित्त कर्मों को अव्यग्र भाव से करने लगीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो पाप हो जाने पर जिसे हार्दिक सच्चा पश्चात्ताप होता है और उसका शास्त्रीय रीति से प्रायश्चित्त करता है उसका वह पाप कुछ काल में छूट जाता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"महाभाग। सूतजी! हमें इस बात का आश्चर्य हो रहा है, कि रानी इतनी सावधानी रखती थी, उसके सम्मुख कुमार पर विष का प्रयोग किया ही कैसे गया। फिर एक दो नहीं लाखों रानियाँ थीं; वे सबकी सब सत्कुलोत्पन्ना राजकुमारी थीं। उनमें से एक ने भी इस निन्दित कर्म का विरोध क्यों नहीं किया? जब बात इतने कानों में पहुँच गई, तो राजमहल में भी यह बात छिपी कैसे रही? रानी तक यह बात पहुँची क्यों नहीं?"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"भगवन्! आपकी

इन सब बातों का मैं एक ही बात में उत्तर दिये देता हूँ, कि जैसी भवितव्यता होने को होती है वैसी होकर रहती है। लाख प्रयत्न करो भवितव्यता अन्यथा नहीं होती। जैसा होने को होता है, वैसा ही वानिक बन जाता है, वैसे ही सब साज सामान जुट जाते हैं। भगवान् वैसी ही लीला रच देते हैं। एक राक्षस था उसने घोर तपस्या की। ब्रह्माजी प्रसन्न हुए, उसने वर माँगा कि ब्रह्मलोक को छोड़कर मेरी कहीं मृत्यु ही न हो। ब्रह्माजी ने तथास्तु कह दिया। अब वह राक्षस मरता ही नहीं था। मरकर ही ब्रह्मलोक जा सकता है। पृथ्वी पर मर नहीं सकता, मृत्यु होना आवश्यक है। अतः भगवान् एक बड़े सुन्दर हंस का रूप बनाकर उसके सम्मुख उड़ने लगे उस चित्र विचित्र हंस को देखकर असुर ने उसे पकड़ लिया और खेल-खेल में उसके ऊपर चढ़ गया हंस उड़ा और सीधा उसे ब्रह्मलोक ले गया। वहाँ जाकर उसके शरीर का पात हो गया।

एक दूसरा असुर था, उसने वर माँगा कि जल को छोड़कर मुझे किसी से भय ही नहीं हो। उसे जब यह वर मिल गया तो सदा जल से बचा रहता था, कभी भूलकर भी जल में प्रवेश नहीं करता था। जब उसकी मृत्यु निकट आई तो वह मृत्यु से बचने को ऊँचे पहाड़ की चोटी पर चला गया। उसी समय वह क्या देखता है, कि समुद्र उमड़ा चला आ रहा है, उसे प्रतीत हुआ, कि यह समुद्र इस पर्वत के शिखर तक पहुँच कर इसे डुबो देगा। असुर चारों ओर से घिर गया था, बड़ा घबड़ाया। कहाँ तो प्राणों को बचाने आया था, कहाँ प्राणों पर आ पड़ी। उसी समय उसे बड़ा भारी द्वीप के समान डील डौल वाला एक कछुआ दिखाई दिया। असुर प्राण रक्षा के लिये उसी पर चढ़ गया। वह कछुआ और कोई नहीं था, काल स्वरूप कृष्ण ने ही यह कच्छप रूप बना रखा था। जब वह असुर

बैठ गया तो कछुआ स्वामी ने एक बुड़की लगाई। गोविन्दाय नमो नमः हो गई। असुर मर गया। भगवन्! हिरण्यकशिपु ने अपने मृत्यु के कितने-कितने बचाव किये अस्त्र से न मरूँ, शस्त्र से न मरूँ, दिन में न मरूँ रात्रि में न मरूँ। पृथ्वी पर न मरूँ, स्वर्ग में न मरूँ, मनुष्य से न मरूँ, पक्षी से न मरूँ। भगवान् ने इन सबका बचाव करते हुए उसे नृसिंह रूप रखकर मार ही डाला। सो प्रभो! उस बच्चे की तो ऐसी ही मृत्यु बदी थी, इसीलिये बात फैली नहीं रानी भी उस समय असावधान हो गई।"

रहो यह बात, कि किसी ने उस क्रूर कर्म का विरोध क्यों नहीं किया? सो ब्रह्मन्! वैसा ही संयोग था जिनकी एक साथ मृत्यु बदी होती है वे देश देशान्तरों से उसी समय इकट्ठे हो जाते हैं, सब नौका पर चढ़ जाते हैं नौका डूब जाती है मर जाते हैं। इन सबका कारण होता है। अकारण कोई भी घटना नहीं होती। पूर्वजन्म में हमने जिसका अपकार किया होगा इस जन्म हो वही हमारा भी आकर अपकार करेगा। पूर्वजन्म में जिसे हमने मारा होगा, इस जन्म में वही आकर हमें मारेगा। पूर्वजन्म में इस बच्चे ने इन सब रानियों को मारा था। इनकी मृत्यु इसी के हाथों से हुई थी। ये सबकी सब बदला लेने के सङ्कल्प से साथ ही मरी थीं। प्रारब्धानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रकट हुईं। भाग्यवश ही सबकी सब फिर पुत्रहीन राजा की पत्नियाँ बनकर एकत्रित हो गईं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पहिले जन्म में ये स्त्रियाँ कौन थीं। क्यों इनको इस कुमार ने मारा था?"

इस पर सूतजी ने कहा—"महाभाग! सभी स्त्रियाँ पूर्वजन्म में चीटियाँ थीं। लाखों करोड़ों साथ ही बिल में रहती थीं। एक दिन भगवान् के नैवेद्य के चावलों को लिये हुए ये अपने बिल में

घुस रही थीं। यह कुमार भी पहिले राजकुमार ही था। यह बैठा-बैठा देख रहा था इतनी चींटियों को एक साथ देखकर इसे एक कुकर्म सूझा। सम्मुख ही जल गरम हो रहा था। पानी खौल रहा था। इसने विनोद-विनोद में ही गरम पानी के पात्र को इन चींटियों के बिल में उड़ेल दिया। इससे गरमी पाकर सबकी सब चींटियाँ मर गईं।

भगवान् के नैवेद्य का उन्होंने स्पर्श किया था, इस पुण्य से तो वे सबकी सब रानियाँ हुईं और अपना बदला लेने के लिये उन्होंने विष दिया। यह राजकुमार भी ज्ञानी था। भूल से उससे यह पाप बन गया। उसका संस्कार इसके हृदय पर अवशिष्ट था। उसे भोगने के लिये फिर पवित्र राजकुल में जन्म लेना पड़ा। जब इन्होंने उसे विष दे दिया, तो यद्यपि उसकी अकाल मृत्यु हुई थी, फिर भी ज्ञान के कारण मुक्त हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सभी कार्य किसी कारण से ही होते हैं। सभी जीव प्रारब्ध के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। सभी का संयोग निश्चित है। अतः किसी घटना को देखकर न तो सोच करना चाहिए। न विस्मय में पड़ना चाहिये। यह जो होता है सब ठीक ही होता है। लीलाधारी की लीला है, विनोदी का विनोद है। यह मैंने उन रानियों का वृत्तान्त सुनाया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! रानियों की बात तो हमने सुनी। अब राजा की बात सुनना चाहते हैं। उनका क्या हुआ, वे सङ्कर्षण भगवान् की उपासना करके सिद्ध हुए या नहीं। इस वृत्तान्त को हमें और सुनाइये। इसे सुनने के लिये हमें बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

ऋषियों की ऐसी उत्सुकता देखकर सूतजी बोले—"मुनियो! अब मैं आपको महाराज चित्रकेतु के उत्तर चरित्र को सुनाता हूँ। आप सब सावधान होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

राजन्! सुख दुख देइ न कोई कबहुँ अकारन।
पूर्व वैर करि यादि करें उच्चाटन मारन॥
चींटी पूरब जन्म माहिँ ये सबई रानी।
क्रीड़ा महँ अति उष्ण कुमर ने छोड़्यो पानी॥
उष्ण तोइ के परतई, ये सबकी सब मरि गईं।
चित्रकेतु के भवन महँ, तेईं सब रानी भईं॥

महाराज चित्रकेतु को विद्याधरादिपत्य की प्राप्ति

[४३०]

चित्रकेतुस्तु विद्यां तां यथा नारदभाषिताम् ।
धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहित ॥
ततश्च सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया ।
विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतं नृपः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

रानिनि कीन्हों जाइ बालहत्या नाशक व्रत ।
नारद तें लै मन्त्र नृपति घर तें निकसे इत ॥
केवल जल पी रहें सात दिन मन्त्र जपत नित ।
शोक मोह सब गयो लग्यो संकर्षण महँ चित ॥
विद्याधर पति ह्वै गये, मनुज देह ई तें नृपति ।
पहुँचे सङ्कर्षण ! निकट, बढ़ी योग तें विपुल गति ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महर्षि नारद की बताई हुई उस विद्या को राजा चित्रकेतु ने उनकी बताई हुई विधि के अनुसार सात दिनों तक केवल जल पीकर एकाग्र चित्त से धारण किया इसके अनन्तर के पश्चात् उस मन्त्रानुष्ठान के प्रभाव से राजा को विद्याधरों का अप्रतिहत का आधिपत्य प्राप्त हुआ । अर्थात् वे देवयोनि विशेष विद्याधरों के राजा हो गये ।

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध गुरु की दी हुई विद्या कभी व्यर्थ नहीं जाती। उनको बताई विधि से सावधानी के साथ किया हुआ अनुष्ठान सफल ही होता है। पात्र भेद से उसके फल में कुछ अन्तर हो जाय, कोई अवान्तर विघ्न हो जाये, यह दूसरी बात है। किन्तु विद्या अमोघ ही होती है। इसीलिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। इस भवनिधि को पार कराने में समर्थ श्रीगुरुदेव भगवान् ही हैं। अन्य किसी की गति नहीं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब राजा अपने मृतक पुत्र के सभी पारलौकिक संस्कार कर चुके और उनकी रानियों ने अपने बालहत्या पाप रूप का प्रायश्चित कर लिया, तो महाराज चित्रकेतु भी राज, पाट, धन, परिवार, स्वजन बन्धु बान्धवों के मोह को त्याग कर उसी प्रकार घर से निकल पड़े, जिस प्रकार कीचड़ में फँसा हाथी किसी दयालु पुरुष की कृपा से निकल जाय।"

महाराज ने सबसे पहिले सर्व पातक नाशिनी भगवती कालिन्दी में स्नान किया। जब वे स्नान तर्पण आदि कर चुके तब मौन धारण करके सर्व प्रथम उन्होंने भगवान् अङ्गिरा मुनि तथा नारद मुनि के पादपद्मों में प्रणाम किया। फिर अंगिरा मुनि ने नारदजी को अनुमति दी, कि वे राजा को मन्त्र दीक्षा दें। तब नारदजी ने आठ मन्त्रों वाली गूढ़ विद्या का उपदेश दिया। राजा ने मन्त्र दीक्षा पाकर अपने गुरुदेव भगवान् नारदजी के चरणों में पुनः कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम किया।

नारदजी ने कहा—"राजन्! आप बड़ी सावधानी से इस मन्त्रोपनिषद् का अनुष्ठान करें, अब मैं जाता हूँ।"

इतना कहकर अङ्गिरा मुनि को साथ लिए हुए भगवान् नारद अपने धाम ब्रह्मलोक को चले गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अङ्गिरा और नारद मुनि के चले जाने पर राजा चित्रकेतु ने नारदजी की बताई हुई विद्या का मन्त्रानुष्ठान विधि से एकाग्र चित्त होकर बड़ी सावधानी और तत्परता के सहित अनुष्ठान किया। वे सात दिन तक न तो सोये ही और न उन्होंने कुछ खाया ही। केवल कालिन्दी के निर्मल जल को पीकर सात दिन और सात रात्रि पर्यन्त उसी मन्त्रोपनिषद् का जप करते रहे।"

सात दिन के पश्चात् एक बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, बिना मृतक हुए ही, उनका यही शरीर दिव्य हो गया। वे मनुष्य से देवता हो गये। देवताओं की एक उपजाति है विद्याधर। विद्याधर बड़े ही रूपवान् होते हैं, वे आकाशचारी स्वच्छन्दविहारी देवगण सभी कामदेव के समान सुन्दर और सदा दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत रहते हैं। महाराज चित्रकेतु साधारण विद्याधर ही हो गये हों, सो बात नहीं। वे तो विद्याधरों के अधिपति हो गए थे। उनको सर्वत्र अप्रतिहत गति थी। सभी विद्याधरों के गणों का उन्हें आधिपत्य प्राप्त था। नारदजी की विद्या अमोघ थी, अतः वे विद्याधर होने पर भी उसका अनुष्ठान करते रहे। उसके प्रभाव से वे स्वयं साक्षात् तमोगुण की मूर्ति भगवान् संकर्षण शेष नागजी के चरणारविन्दों के समीप पहुँचे। उन्हें भगवान् धरणीधर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए।

महाराज चित्रकेतु ने देखा सहस्रफणों वाले भगवान् सङ्कर्षण के एक फण पर सरसों के समान यह सम्पूर्ण भूमण्डल रखा हुआ है। उनके चारों ओर बड़े-बड़े सिद्धेश्वर अञ्जलि बाँधे खड़े हुए हैं। उनके सहस्र फणों में सहस्र मुकुट शोभायमान हैं। मुकुटों में नाना प्रकार की बहुमूल्य मणियाँ जगमगा रही हैं। मणियों के चाकचिक्य से वह पाताल विवर परम प्रकाशवान् बना हुआ है। भगवान् का सम्पूर्ण श्रीअङ्ग कमल नाल के सदृश

शुभ्र और तेजोमय है। उस पर दिव्य नीलाम्बर फहरा रहा है। किरीट, केयूर, कटिसूत्र, कङ्कण आदि आभूषणों की शोभा से सुशोभित उनका सम्पूर्ण श्रीअङ्ग झिलमिल-झिलमिल कर रहा है। माधुरी सुधा का पान करने से उनके कमल नयन कुछ अरुण से हो रहे हैं। मुख मन्द-मन्द मुस्कान से मनोहर और अत्यन्त अकर्षक प्रतीत हो रहा है। भगवान् के समस्त ओठ हिल रहे हैं, वे सुमधुर भगवन्नाम का निरन्तर जप कर रहे हैं।

विद्याधर बने हुए राजर्षि चित्रकेतु ने स्नेह भरित हृदय से अपने इष्टदेव के दर्शन किये। भगवान् संकर्षण के दर्शन करते ही उनके समस्त पाप सन्ताप नष्ट हो गये। उनके अन्तःकरण में भी कुछ मल अवशेष था, वह तत्काल ही नष्ट हो गया। इससे उनका अन्तःकरण शुद्ध तथा निर्मल बन गया। जैसे भूखे को सुस्वाद भोजन मिल जाय, चिर वियोगिनी को अपना प्रियतम मिल जाय, अत्यन्त दीन दुखी दरिद्र को जैसे सम्पत्ति मिल जाय। इन सबको जैसे प्रसन्नता होती है, उससे भी सहस्रों गुनी प्रसन्नता राजर्षि चित्रकेतु को भगवान् के दर्शनों से हुई। उन्होंने भक्तिभाव से अपने प्रेम प्यासे नेत्रों में प्रेमाश्रु भरकर रोमांचित हुए और भूमि में लोटकर देवाधिदेव भगवान् संकर्षण के दिव्य-चरणारविन्दों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय देकर भगवान् के पाद-पीठ की पूजा करनी चाहिये। इसलिए स्नेहवारि से उन्होंने पाद-पीठ को धोकर प्रेमाश्रुओं द्वारा ही पाद्यादि कृत्य किये। पवित्र कीर्ति भगवान् आदि देव संकर्षण के चरणों को उन्होंने प्रेमपय से पखारा। प्रेमोद्रेग के कारण उनका कण्ठ रुद्ध हो गया था। इसलिये अत्युत्कट इच्छा रहने पर भी वे भगवान् को स्तुति भी न कर सके।

प्रेम का वेग जब कुछ कम हुआ, तब उन्होंने अपने को सम्हाला

जब कुछ-कुछ बोलने की शक्ति प्राप्त हो गई तब बुद्धिपूर्वक मन को समाहित करके समस्त बिखरी हुई चित्त की वृत्तियों का

निरोध करके तथा बाह्य और अन्तःकरण की वृत्ति को संयमन करके जगद्गुरु भगवान् शेषजी की स्तुति करने को प्रस्तुत हुए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! राजर्षि चित्रकेतु ने जो

संकर्षण भगवान् की दिव्यातिदिव्य मधुरातिमधुर स्तुति की है, उसे मैं स्तुति के प्रकरण में कहूँगा। वह स्तुति बड़ी ही भावपूर्ण है।

राजर्षि चित्रकेतु की स्तुति से भगवान् संकर्षण अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रसन्न होकर जो उन्हें भगवान् ने उपदेश दिया उसे आप सावधान होकर आगे श्रवण करें।

छप्पय

कनक मुकुट मणिजठित फणनिपै चहुँदिशि चमकें।
गौर वर्ण पै परम रम्य नीलाम्बर दमकें॥
कंकणादि कटि सूत्र सबनि तें शोभा अद्भुत।
सुधापन तें अरुन नयन अति ई आभायुत॥
श्री अनन्त दर्शन करत, बढ़ी हृदय महँ भक्ति अति।
गद्गद वानी तें विनय, प्रेम सहित कीन्हीं नृपति॥

—:—

चित्रकेतु को भगवान् सङ्कर्षण का उपदेश

[४३१]

लब्ध्वेह मनुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसंभवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्धयेत न क्वचित्क्षममाप्नुयात् ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १६ अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

चित्रकेतु को विनयपाठ सुनि शेष सिहाये ।
तत्व ज्ञानमय गूढ़ वचन हितकर समुझाये ॥
दुर्लभ है नरदेह भाग्य तें कोई पावें ।
पाइ करें नहीं भक्ति अन्त महँ ते पछितावें ॥
ज्ञान दयो श्री शेष ने, भक्त प्रवर भूपति भये ।
पुनि करि सेवक श्रम सफल, अन्तर्हित हरि ह्वै गये ॥

इष्टदेव, गुरुदेव के दिये हुए ज्ञान का समर्थन करते हैं। गुरुमन्त्र के जप का फल है, इष्टदेव के दर्शन। जिसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो गई, वह कृतार्थ हो गया उसे न फिर कुछ करना शेष रह जाता है और फिर कर्तव्य-बुद्धि से भगवत् सेवा के अतिरिक्त कोई कर्म बन्धन ही अवशिष्ट रहता है। इष्ट जो उप-

* विद्याधरों के अधिपति राजर्षि चित्रकेतु से अनन्त भगवान कह रहे है—"राजन् ! इस लोक में जो पुरुष जिसके द्वारा ज्ञानविज्ञान सम्भव है, ऐसी मनुष्य योनि को पाकर भी सबके आत्मभूत भगवान् को नहीं जानता, तो उसे कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं सकती।"

देश देता है, वह तो साधन का महत्व बताने के लिये, साधक की प्रसन्नता के लिये ही बताते हैं। सेवक को स्वामी के श्रीमुख से उपदेशादि श्रवण करने को सदा इच्छा बनी रहती है। उसी इच्छा की पूर्ति के लिये प्रभु उपदेश करते हैं। वह अन्य साधकों के लिए पथ प्रदर्शन का काम देता है, उसके सहारे असंख्यों साधक अपने साध्य तक पहुँचने में समर्थ होते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब विद्याधरों के अधिपति महाराज चित्रकेतु ने भगवान् सङ्कर्षण के प्रत्यक्ष दर्शन किये और प्रेम में विभोर होकर उनकी लम्बी चौड़ी स्तुति की तो उससे प्रसन्न होकर भगवान् अपने भक्त से हँसते हुए बोले—"राजन्! अब स्तुति का क्या काम है, अब तो तुम सिद्ध हो गये। साधन तभी तक है जब तक इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो। इष्ट वस्तु प्राप्त हो गई, तो फिर शुभ साधन छूट जायँ सो बात नहीं। वे तो शरीर रहते हुए स्वभावानुसार किसी-न-किसी रूप में होते ही रहेंगे। अन्तर इतना ही है, कि फिर उनमें कर्तव्य बुद्धि न रहेगी। जैसे स्वास-प्रस्वास स्वयं विना प्रयत्न के आते-जाते रहते हैं, वैसे ही सिद्धों के साधन होते रहते हैं। जिस दिन तुम्हें अङ्गिरा और नारदजी ने मेरे विषय में उपदेश दिया, तुम तो उसी दिन सिद्ध हो चुके थे; जो कुछ न्यूनता शेष थी, वह भी मेरे दर्शनों से पूर्ण हो गई। अब तुम समझ लो, कि सम्पूर्ण भूतों का पालन करता मैं ही हूँ। मैं ही सबको अन्तरात्मा हूँ सबके हृदय में विराज कर सभी प्रकार की प्रेरणायें मेरे ही द्वारा होती हैं। मेरी दो मूर्तियाँ हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! वे दो मूर्तियाँ आपकी कौन-कौन हैं। कौन-सी पहिली हुई कौन-सी पीछे हुई।"

यह सुनकर भगवान् अनन्त बोले—"राजन्! हुई कहाँ से वे तो नित्य हैं, सनातन। एक तो मेरी मूर्ति है शब्द ब्रह्म दूसरी

मूर्ति है परब्रह्म। इन दोनों में कोई भेदभाव या पृथकृत्व नहीं। ये दोनों मेरी सनातन मूर्तियाँ हैं।"

महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"भगवन्! यह जो हमें प्रत्यक्ष प्रपञ्च दिखाई दे रहा है, उसका जीवात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है ?

इस पर भगवान् सङ्कर्षण बोले—"देखिये, राजन्! यह जो प्रपञ्च है यह जीवात्मा में व्याप्त है। बिना प्रपञ्च के जीव का प्रयोजन ही क्या ? उसी प्रकार जीवात्मा में प्रपञ्च भी व्याप्त है। दोनों का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में भी कारण रूप से मैं ही व्याप्त हूँ। वास्तव में तो सबका एकमात्र कारण मैं ही हूँ।"

राजा ने कहा—"भगवन्! बात तो समझ में आ आई नहीं। जब जीवात्मा और प्रपञ्च का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और इन सबके कारण एकमात्र आप ही हैं तो आप तो सत्य हैं, सुख स्वरूप हैं, एक रस हैं। ये सब बातें इस दृश्य प्रपञ्च में भी होनी चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! ये सत्य नहीं हैं। मेरे में माया द्वारा कल्पित हैं। जैसे एक आदमी सो रहा है। सोते-सोते स्वप्न में वह अपने में ही सबको देखता है अर्थात् मैं ही सब कुछ हूँ। फिर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उस स्वप्न से निवृत्त हो जाता है, तब देखता था जगत् मुझसे पृथक् है मैं उसके किसी एक देश में अवस्थित हूँ। स्वप्न देखने वाला एक ही है। एक स्वप्न में तो वह सबको अपने में ही देखता है, फिर स्वप्नान्तर में अपने को संसार के एक देश में स्थित मानता है। वास्तव में दोनों ही बातें स्वप्न की हैं उनमें सत्यता नहीं है। इसी प्रकार जीव की जो ये जाग्रत स्वप्न आदि अवस्थायें हैं ये कुछ वास्तव में हैं थोड़े ही परमेश्वर की माया मात्र ही है। ये जितने भी कार्य हैं,

सबके एकमात्र कारण सबके साक्षी मायातीत महेश्वर हैं और वह मैं ही हूँ। इसलिये सदा सर्वदा इन मायिक प्रपंचों को भूल-कर मेरा ही निरंतर स्मरण करते रहना चाहिये। मेरा स्मरण ही साधनों का सार है।"

राजा ने पूछा—"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों के अभिमानी विश्व तेजस् और प्राज्ञ ये बताये हैं इनमें से किसे आत्मा माने।"

इस पर भगवान् ने कहा—इन तीनों का भी जो साक्षी है वही आत्मा है। अजी यों समझो स्वप्न में हम सोते हैं, एक तो निद्रा के सुख का अनुभव करते हैं। उस समय दृश्य प्रपंच तो रहता नहीं, जिनके द्वारा विषय ग्रहण करते हैं, वे इन्द्रियाँ भी अचेतन पड़ी रहती हैं। फिर भी हम अनुभव करते है, कि आज हम अत्यन्त ही सुख से सोये। अब दो बातें हुईं एक तो निद्रा जनित सुख और दूसरा अतीन्द्रिय सुख। इन दोनों का जो अनु-भव करता है वह आत्मरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।"

राजा ने पूछा—"तब फिर भगवन्! निद्रा आती किसे है? आत्मा को या देह को।"

इस पर भगवान् ने कहा—"आत्मा को निद्रा से क्या सम्बन्ध। जिसे निद्रा आती है, वह जागता है, आत्मा तो नित्य जागृत है। अतः निद्रा जागृति ये एक कल्पित अवस्था मात्र हैं। इन दोनों में ही जो समान रूप में साक्षी रूप से अनुगत हैं। इनसे सर्वथा पृथक् होता हुआ भी जो कभी विकृति को प्राप्त नहीं होता वह केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप ही परब्रह्म है।"

इस पर राजा ने पूछा—"तब प्रभो! जीव बन्ध मोक्ष के चक्कर में क्यों फँस जाता है। इसे नाना योनियों में पुनः-पुनः जन्म क्यों लेना पड़ता है?"

भगवान् संकर्षण ने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, कहाँ

जन्म लेना पड़ता है, न कहीं बन्ध है न मोक्ष व्यर्थ में मिथ्या कल्पना में पड़कर जीव अकारण भटकता रहता है। कण्ठ में माला पड़ी है, बाहर ढूँढ़ रहा है माला कहाँ है माला कहाँ है। एक आदमी है, उसने आवश्यकता से अधिक भाँग चढ़ा ली है, उसी भाँग के नशे में बच्चे को बगल में दबाये घर आया। घर पर आते ही याद आया छोरा नही है। अब यहाँ ढूँढ़ वहाँ ढूँढ़। बड़े दुखी बड़े चिन्तित। कहीं सुख नहीं, कहीं शान्ति नहीं। किसी दयालु ने उसे अत्यन्त व्यग्र देखकर पूछा—"क्यों जी! आप क्या ढूँढ़ रहे हैं? क्यों इतने चिन्तित और दुखी हैं?"

उसने कहा—"जी, क्या बताऊँ। घर से आया था अपने छोरा को संग लाया था, वह खो गया है उसे ही ढूँढ़ रहा हूँ।"

उस आदमी ने हँसकर कहा—"छोरा तो आपकी बगल में ही है। इधर-उधर आप व्यर्थ कहाँ भटक रहे हैं?"

तब उसने देखकर प्रसन्नता के साथ कहा—"वाह! यह अच्छी रही "बगल में छोरा, सबरे गाँव में ढिंढोरा" सो राजन्! जब जीव मेरे इस परब्रह्म स्वरूप को भूल जाता है, तभी वह अपने आत्म स्वरूप से अपने को बिछुड़ा-सा अनुभव करने लगता है, अपने को संसारी कर्मों में बँधा हुआ समझकर नाना योनियों के सुख दुख जन्म मरण को अपने में ही मानकर संसारी बन जाता है।" इसलिये जिसे सबके आत्मा रूप परमेश्वर का ज्ञान हो गया, वह तो संसारिक दुखों से सर्वदा के लिये मुक्त हो गया। जो इस ज्ञान से वञ्चित रहा वह तो फिर— "पुनरपिजननं पुनरपिमरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्। के चक्कर में पड़ा-पड़ा गेंद बन जाता है। जो ठोकर के सहारे उछलता और गिरता रहता है। यह ज्ञान मनुष्य देह में ही सम्भव है। अतः जिसने मनुष्य देह पाकर इस

ज्ञान को पार कर लिया, उसने तो मनुष्य देह का फल पा लिया, जो इससे वञ्चित रहा वह तो गोविन्दाय नमोनमः हो गया।"

विद्याधराधिप चित्रकेतु ने कहा—"भगवन्! यह प्राणी सदा सुख के लिये ही प्रयत्न करता रहता है। फिर इसे दुख की प्राप्ति क्यों होती है?"

इस पर अनंत भगवान् बोले—"महाराज! दुःख का कारण है, फल की इच्छा। ये संसारी लोग विषय सुखों की प्राप्ति के लिये दिनरात्रि कितना प्रबल प्रयत्न करते रहते हैं। दिनरात्रि एक कर देते हैं। अहर्निशि व्यग्र बने रहते हैं, किन्तु सुख इसलिये नहीं मिलता कि वे अनित्य वस्तुओं के लिये फलाकांची होकर प्रयत्न करते हैं। आप वृक्ष तो लगावें बबूर का और उसे ही पालने पोसने में सदा श्रम करते रहें, उससे फल सुन्दर चाहे तो श्रम का फल तो होगा ही, किन्तु विपर्यय फल होगा। मधुर मधुर सुस्वादु फल न लगकर उसमें बड़े-बड़े काँटे ही लगेंगे। जो पुरुष इन सांसारिक प्रावृत्तियों में नहीं फँसते, इन विषयों से निवृत्त होकर आत्मस्वरूप श्रीहरि की ही शरण में जाते हैं। कामना से निवृत्त होकर फल की वांछा नहीं रखते उनको कहीं भय नहीं। वे नित्य निर्भय पद को प्राप्त होते हैं।"

यह तो आपका कहना ठीक ही है, कि सभी स्त्री पुरुष सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये ही समस्त कार्य करते हैं, किन्तु उनकी गति तो उल्टी है। जाना है उन्हें उत्तर की ओर रास्ता चल रहे हैं दक्षिण की ओर का, फिर गन्तव्य स्थान पर कैसे पहुँच सकते हैं। विपरीत पथ और विपरीत भावना होने से न तो उसका दुःख ही दूर होता है न शाश्वत सुख की ही उपलब्धि होती है।

महाराज चित्रकेतु ने पूछा—"तब फिर भगवन्! दीखता यह

दृश्य जगत ही है, इसमें आसक्ति न करे, तो फिर मनुष्य करे क्या ? बिना प्यार किये तो कोई प्राणी रह नहीं सकता।"

इस पर अनन्त भगवान् बोले—"मुझसे प्यार करे, मेरा भक्त हो जाय। इतना करना पर्याप्त है।"

राजा ने पूछा—"कैसे भक्त हों महाराज ! यह संसार छोड़े तब न ?"

भगवान् शीघ्रता के साथ बोले—"छोड़ने वाली बात क्या है, भैया ! यह मनुष्य प्राणी अभिमान में भरकर अपने को ही सब कुछ समझता है, इसीलिये इसे विपरीत फल की प्राप्ति होती है। आत्मा की गति तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है। जब तक इस लोक के वैषयिक पदार्थों से तथा परलोक के दिव्य पदार्थों से विराग नहीं होता, तब तक मेरी भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। विषयों का भक्त मेरा भक्त हो ही नहीं सकता। जो बाहरी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये भीतर की इन्द्रियाँ संसारी वस्तुओं में संलग्न हैं उन्हें ही सत्य समझकर ग्रहण करती हैं तब तक योग मार्ग में कुशलता प्राप्त नहीं हो सकती। जब समस्त भीतरी बाहरी इन्द्रियों द्वारा एकमात्र उन आनन्दघन सच्चिदानन्द परब्रह्म सुख स्वरूप श्री हरि का ही दर्शन करता है, वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। वही सच्चा भगवद्भक्त है। मनुष्य के लिये यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है, इसी का नाम परम पुरुषार्थ है। यदि तुम भी इस मेरे उपदेश के अनुसार अपने समय को व्यतीत करोगे, तो तुम ज्ञान विज्ञान परितृप्त नित्यमुक्त भवद्भक्त हो जाओगे।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार और भी भाँति-भाँति के उपदेश देकर अनन्त प्रभु वहाँ के वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा उनके दर्शन से प्रमुदित हुए हक्के-बक्के से खड़े

के खड़े ही रह गये। जैसे कोई स्वप्न से निवृत्त होकर विस्मित भाव से इधर-उधर आश्चर्य से देखता है वैसे ही राजा इधर-उधर चकित भाव से आँखें मलते हुए देखने लगे। फिर जिस दशा में भगवान् अन्तर्हित हुए थे उस दिशा को प्रणाम करके वे आकाश मार्ग से स्वच्छन्द विचरण करने लगे।"

छप्पय

हरि अन्तर्हित भये रहे विद्याधर विस्मित।
भौचक्के से होइ निहारें पुनि पुनि इत उत॥
करि धरनीधर दरश मनोरथ सफल भये सब।
मिट्यो सकल सन्ताप कृतारथ भये भूप अब॥
सङ्कर्षण जिहि दिशा महँ, दे सिख अन्तर्हित भये।
करि प्रणाम तिहि दिशा कूँ, चढ़ि विमान में उड़ि गये॥

चित्रकेतु का भरी सभा में शिवजी पर आक्षेप

[४३२]

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता ।
गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः ॥
आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।
उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके *॥
(श्रीभा० ६ स्क० १७ अ० ४, ५ श्लो०)

छप्पय

अष्टसिद्धि नवनिद्धि नृपति के निकट विराजें ।
विद्याधरपति भये तेज महँ रवि सम भ्राजें ॥
एक दिना कैलाश गये शिव शिवा संग महँ ।
बैठे लैके अङ्क मिलायें अङ्ग-अङ्ग महँ ॥
हँस्यो देखि शिव सन कहे, वचन कठिन अति व्यङ्ग तें ।
तजि लज्जा लिपटे रहें, शम्भु शिवा के अङ्ग तें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! एक बार चित्रकेतु भगवान् के दिये दिव्य विमान पर चढ़कर आकाश से जा रहा था । तब उसने सिद्ध चारणों से घिरे हुये भगवान् भोलेनाथ को देखा । वे मुनि मण्डली में अपनी प्रिया भगवती पार्वती का बाहु से आलिङ्गन किये हुए थे, देवी उनकी गोदी में बै ठी हुई थीं । यह देखकर चित्रकेतु उनके समीप गया और बड़े जोरों से हँसकर पार्वतीजी को सुनाते हुए, न कहने योग्य वचन कहने लगा ।

आर्य धर्मशास्त्र में जितने नाम वाले पदार्थ हैं, सबको सजीव योनि वाला बताया गया है, अंडज, पिंडज, स्वेदज और जरायुज ये तो मर्त्यलोक के प्राणी हैं देव, दैत्य, दानव, ऋषि, गन्धर्व आदि अनेकों ऊपर के लोकों की जातियाँ हैं। धर्म अधर्म ये भी सब व्यक्ति विशेष हैं, इनका भी वंश बढ़ता है, इनके भी जातियाँ हैं काम की उत्पत्ति कैसे हुई काम की बहु कौन है उनके बच्चे कौन हैं इन सब बातों का पुराण में वर्णन है। यहाँ हमें मद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताना है। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य के काम क्रोधादि ६ शत्रु बताये हैं। उनमें एक 'मद' भी है। मद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है। यह कथा वृत्रासुर की उत्पत्ति से मिलती जुलती भी है। एक बार भगवान् च्यवन ऋषि इन्द्र के किसी अपराध पर उससे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने तपोवल से इन्द्र को मारने के निमित्त एक शत्रु को पैदा किया। जब यह बात इन्द्र ने सुनी, तब तो उनके छक्के छूट गए। च्यवन के तप, तेज के प्रभाव से वे भली-भाँति परिचित थे। अन्य कोई उपाय न देखकर वे दौड़े-दौड़े च्यवन ऋषि के पास आये आकर अपने मणिमय किरीट से युक्त मस्तक को उनके चरणों में रख दिया और अत्यंत ही विनीतभाव से उनकी प्रार्थना करने लगे। ब्राह्मण का हृदय तो नवनीत के समान होता है तनिक में पिघल जाता है मुनि प्रसन्न हो गये उनका क्रोध जाता रहा वे बड़ी चिन्ता के साथ बोले—"भैया, इन्द्र! तुम अच्छे आ गये नहीं तो यह मेरा उत्पन्न किया हुआ असुर तुम्हें निश्चय मार डालता। यह बड़ा बली है अब इसे कहाँ रखें। एक की तो शक्ति नहीं जो इसे धारण कर सके तुम जहाँ कहो वहाँ इसे रख दें।

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! जब यह तीनों लोकों के स्वामी

मुझे भी मारने में समर्थ है, मुझसे भी बली है तो इसे बहुत स्थान में बाँट दीजिये।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, इसे हम सभी स्थानों में बाँट देते हैं। एक तो यह स्त्रियों में बहुत रहेगा। विशेष कर युवतियों में, वे सदा मदमाती बनी रहेंगी। जुआड़ियों में रहेगा। सुरा में, मृगया में जितनी भर विद्यायें हैं उनमें, समस्त शिल्पों में, रूपवानों में, बलवानों में, कुलीनों में, ऐश्वर्यशालियों और कहाँ तक कहें सभी प्राणियों में सामान्य रूप से रहेगा। हाथियों में और मद्य में विशेष रहेगा। कहाँ तक कहें त्यागी भी इससे न बचने पावेंगे।" तभी से यह मद प्राणियों में रहकर उन्हें मदमाता बनाये रहता है। विशेषकर जो ऐश्वर्य शाली हैं, जिन्हें अपने तप, तेज, ऐश्वर्य का अभिमान है उन्हें यह बहुत तंग करता है। मद में भरकर ही तो लोग बड़ों का अपमान करते हैं, इसीलिये वे शाप से शापित होकर क्लेश उठाते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु भगवान् संकर्षण के दर्शनों से और उनके उपदेश से कृतार्थ हो चुके थे। उन्हें जो वैराग्य हुआ था अत्यन्त शोक के कारण तामस भाव से हुआ था। इसीलिये भगवान् नारद ने भगवान् की तमोमयी मूर्ति की उपासना बताई। अज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी प्रतीत होता है, उनके कुछ प्रारब्ध शेष रह गये थे। ज्ञान हो जाने पर भी जीवन्मुक्त पुरुष का प्रारब्ध शेष रह जाता है। सञ्चित कर्मों के नाश हो जाने पर भी शरीर के प्रारब्ध कर्मों का तो भोग भोगना ही पड़ता है, उनमें आसक्ति न हो, उन्हें प्राप्त करके सुख दुःख का अनुभव न करें यह दूसरी बात है।"

महाराज चित्रकेतु के भी कुछ भोग अवशेष थे। उन्हें भोगते हुए वे आकाशमार्ग से दिव्य लोकों में विचरण करने लगे।

भगवान् ने उन्हें एक अत्यन्त ही तेजोमय सर्व सम्पत्ति युक्त सुख-कर दिव्य विमान दिया था। विद्याधरों की जो सबसे सुन्दरी कन्यायें थीं, वे सदा उनकी सेवा में रहने लगीं। अत्यन्त सुन्दरी गाने, बजाने और नाचने में प्रवीण सहस्रों सुरसुन्दरी अप्सरायें उनकी उपासना करतीं। अपने महान् योग के प्रभाव से उन सब भोगों को निष्काम भाव से भोगते हुए वे स्वच्छन्द विहार करने लगे। कभी वे इन्द्रलोक चले जाते, कभी वरुणलोक के रमणीक वनों में सुखपूर्वक विचरते। कभी गन्धर्वों के लोकों में जाकर गायन सुनते, कभी सिद्धों के लोकों में आनन्द उठाते। कभी सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में किलोलें करते। कभी गन्धर्वों से भगवान् की लीलाओं का अनुकरण कराते, कभी विद्याधरों की सुन्दर गाने वाली सुन्दरियों से श्रीहरि का सुयश गान कराते और उसे बड़ी श्रद्धा के साथ श्रवण करते।

इस प्रकार सुखपूर्वक वे अपने काल का यापन करने लगे। उन्हें अपने योग का, अपने ऐश्वर्य का, अपनी अव्याहत गति का कुछ तनिक-सा मद भी हो गया था। भगवद्भक्तों को प्रथम तो कभी मद होता नहीं। कदाचित् किसी कारण से हो भी जाय तो मद-हारी मधुसूदन उनके मद का तुरन्त नाश कर देते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अब विद्याधरों के स्वामी महाराज चित्रकेतु मुनि सिद्ध तथा गन्धर्वचारणों द्वारा अपने सुयश को सुनते हुए इधर से उधर घूमने लगे। एक दिन वे घूमते फिरते कैलाश के ऊपर से जा रहे थे। वहाँ उन्हें मुनिजनों की गोष्ठी में बैठे हुए भगवान् भूतनाथ दिखाई दिये। शिवजी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के निमित्त उन्होंने विमान नीचे उतरा और विमान में बैठे ही बैठे उसने शिवजी के दर्शन किये। वहीं से उसने उन्हें प्रणाम किया।

शिवजी कैलाश के एक अति रमणीय प्राकृतिक सौन्दर्य से

युक्त शिखर पर विराजमान थे। बहुत से सनकादि ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी उन्हें घेरे हुए बैठे थे, मुनि मण्डली के मध्य में शिवा के साथ बैठे हुए शिवजी ऐसे प्रतीत होते थे मानों आकाश मण्डल में ताराओं से घिरे रोहिणी के सहित चन्द्रमा बैठे हों। सिद्ध-चारण गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे थे। भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, साकिनी, यक्ष राक्षस, गन्धर्व वैताल तथा गुह्यक आदि उपदेव उनकी सेवा में समुपस्थित थे चिता की शुभ्र भस्म से वे जाज्वल्यमान सूर्य के समान चमक रहे थे। जटाओं में गङ्गाजी हिलोरें मार रही थीं। माथे पर द्वितीया के चन्द्रमा तिलक के साथ दमदमा रहे थे। रुद्राक्ष की मालाओं से उनका श्रीकण्ठ सुशोभित था। बाजू बन्दों के स्थान में भी रुद्राक्ष बँधे थे। भगवान् की गोद में त्रैलोक्य सुन्दरी पार्वती वस्त्राभूषणों से अलंकृत सोलहू शृंगार किये हुए विराजमान थीं। भगवान् अपने बायें हाथ से उनका आलिंगन किये हुए थे। दायें हाथ से मुनियों को उपदेश दे रहे थे। शिवा और शिव के वक्षःस्थल सटे हुए थे। प्रेम में निमग्न हुई भगवती शरीर को ढीला किये हुए भगवान् के अङ्क में ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रही थीं। सब मुनियों का तो इधर ध्यान ही नहीं था। क्योंकि वे तो अर्धनारी नटेश्वर शिव के उपासक थे। उनके लिये शिव और शिवा में कोई भेद ही नहीं था एक ही शरीर के दो अङ्ग हैं ऐसी उनकी विशुद्ध दृढ़ धारणा थी।

भगवान् भोलेनाथ के इस रूप में दर्शन करके विद्याधर चित्रकेतु को प्रसन्नता नहीं हुई। उसने समझा शिवजी सदाचार का उलङ्घन कर रहे हैं। यह ठीक है अपनी अर्धाङ्गिनी धर्मपत्नी को अंक में बिठाना कोई पाप नहीं किन्तु फिर भी सबके सामने ऐसा व्यवहार शोभनीय नहीं है। महाराज ऐसा मन में सोचकर शिवजी को प्रणाम करके चले जाते, तो भी ठीक था,

किन्तु उन्हें तो उस समय ऐश्वर्य और योग के मद ने घेर लिया था। वे भगवान् शिव की भरी सभा में आलोचना करने लगे।

भगवान् अर्धनारी नटेश्वर शिव को देखकर हँसते हुए और
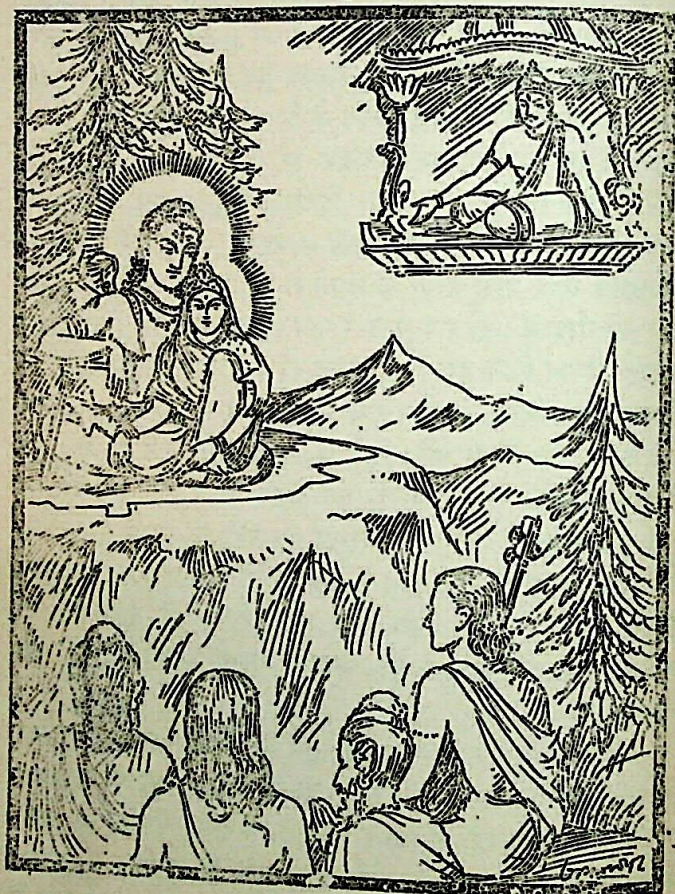
जगज्जनी भगवती पार्वती को सुनाते हुए वे बोले। किसी मनुष्य से नहीं आकाश में अपने आप ही सबको सुनाते हुए

बिना किसी को सम्बोधित किये कहने लगे—"हैं ! देखिये, भगवान् की कैसी विचित्र माया है। इन शिवजी का नाम महादेव देवाधिदेव है। अर्थात् ये पशु, पक्षी, मनुष्य देवता समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये सर्व धर्मों के आचार्य भी हैं। इनके वाक्य, प्रमाण में उद्धृत किये जाते हैं, ये धर्मों के वक्ता, उपदेष्टा और शिक्षक हैं। इनका एक नाम सदाशिव जगद्गुरु भी है। इतना सब होने पर भी इनके आचरण इतने क्षुद्र हैं, कि कोई सामान्य पुरुष भी नहीं कर सकता। भरी सभा में ये अपनी भार्या को अंक में बिठाकर उसका आलिंगन किये बैठे हुए हैं।

वैसे मैं शिवजी की निन्दा नहीं करता। ये तो महान् तपस्वी हैं। तपोमूर्ति ही हैं, मूर्तिमान् धर्म हैं, ब्रह्म वेत्ताओं के अग्रणी हैं। नियम, व्रत, जप, तप, समाधि के स्वरूप है, इनकी बड़ी-बड़ी जटायें, शरीर को भस्म ये सब तपस्वियों के चिन्ह हैं। इनका तप तेज तो प्रत्यक्ष ही है कि इस इतनी बड़ी सभा जिसमें सनकादि महर्षि तथा अन्यान्य सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता, ऋषि मुनि तथा और भी बड़े-बड़े लोकपालादि विराजमान हैं, इन सबसे ये उच्चासन पर विराजमान हैं। इस सभा के ये सम्माननीय सभापति हैं। इतना सब होने पर भी न जाने क्यों ये इस भरी सभा में साधारण विषयी कामी पुरुषों की भाँति निर्लज्ज होकर स्त्री को गोद में बिठाये हुए हैं।

इस पर कोई कह सकते हैं, कि अपनी अर्धाङ्गिनी धर्मपत्नी को गोद में बैठाने में क्या दोष ? तो दोष चाहे न भी हों, किन्तु यह बात लोक मर्यादा तथा सदाचार के विरुद्ध है। साधारण विषयी पुरुष भी इस प्रकार का आचरण अपनी पत्नी से एकांत में करते हैं। स्त्रियाँ अपने पति से सबके सामने लज्जा करती हैं। परदे में रहती हैं। किन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी तथा तपस्वी

होकर भी सबके सामने बिना शील संकोच के स्त्री को गोद में बिठाये हैं, क्या यह सदाचार के विरुद्ध नहीं है ?"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु की ये व्यङ्ग भरी बातें सभा में बैठे सभी लोगों को बुरी लगीं। किन्तु सभा के नियम के विरुद्ध बिना सभापति की अनुमति के कोई बोल कैसे सकता है। किसी की बात का प्रत्युत्तर या खण्डन मण्डन कैसे कर सकता है। इसीलिये सब भगवान् शूलपाणि के श्रीमुख की ओर देखने लगे। शिवजी तो भोले ही बाबा ठहरे। चित्रकेतु की इन कटाक्षपूर्ण बातों को सुनकर परम गम्भीर अगाध बुद्धि भगवान् सदाशिव हँस पड़े। उनके हास्य की शुभ्र से दशों दिशायें धवलित हो उठी आकाश उनके अट्टहास से गुञ्जायमान हो गया। उन्होंने अपने हास्य से यह ध्वनित किया कि यह बच्चा है, इसकी बात का कुछ भी विचार न करना चाहिये। जिस बात की सभापति ही उपेक्षा कर रहा है स्वयं ही इस विषय को आगे बढ़ाना नहीं चाहता, तो सभा में बैठे अन्य सदस्यगण भी उन्हीं के अनुसार मौन रहें। बात यह है, कि बड़े लोगों में बड़ी गम्भीरता होती है। जो नये साधक होते हैं, वे नया वैराग्य नया रक्त होने के कारण बड़ी उछल कूद मचाते हैं। बड़े लोगों के आचरण में तनिक-सी बात भी उन्हें अपनी बुद्धि से विपरीत दिखाई दी, तो उस पर वे बड़े-बड़े व्यङ्ग कसते हैं। न कहने योग्य बातें कह जाते हैं। जो कल तक उनके सामने नङ्गा घूमता था आज वही तनिक-सी सिद्धि पाकर तनिक-सी प्रतीष्ठा पाकर आपे से बाहर हो रहा है। बड़े लोग समझ जाते हैं ज्यों-ज्यों इसकी अवस्था परिपक्व होती जायगी। इसकी यह चञ्चलता, उछङ्खलता नष्ट हो जायगी। इसलिये वे उसके व्यङ्ग वचनों का. उत्तर नहीं देते। हँसकर टाल देते हैं। इसी न्याय से शिवजी ने चित्रकेतु की एक

भी बात का उत्तर नहीं दिया। जैसे उसने असामयिक अरण्य रोदन किया था, वैसे ही उसे उपेक्षणीय ठहरा दिया, हँसकर उड़ा दिया।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी ने तो उसकी अविनय धृष्ठातापूर्व अनुचित बातों को क्षमा कर दिया। किन्तु पार्वती जी कब मानने वाली थीं। सती स्त्रियाँ सब कुछ सह सकती हैं किन्तु जहाँ कोई उनके चरित्र के सम्बन्ध में अनुचित बात कहता है तो उसे वे सहन नहीं कर सकतीं। इसीलिये माँ पार्वती उस उच्छृङ्खल बालक को उपदेश और शिक्षा देने को विवश हुईं।

छप्पय

खिलखिलाय हर हँसे नृपति के व्यङ्ग बचन सुनि।
निरखि शम्भु रुख मौन रहे सुर असुर देव मुनि॥
किन्तु सहन नहिँ भये कुपित अति भई भवानी।
जान्यो है यह धृष्ट नीच अतशय अभिमानी॥
रोष सहित बोली शिवा, हमरे गुरु आये नये।
ब्रह्मा, हरि, नारद, कपिल, ये सब तो बूढ़े भये॥

—:—

चित्रकेतु को शिवा द्वारा शाप

[४३३]

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं
जगद्गुरुं मंगलमंगलं स्वयम् ।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूयसूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥*
(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

ब्रह्मादिक नित लखें नहीं बरजे श्री शिवकूँ।
आये ये आचार्य धर्म समुझावन हमकूँ॥
ऋषि-मुनि साधक सिद्ध आइ हर पद सिर नावें।
विद्याधर ये तिन्हें नियम आचार सिखावें॥
अपराधी वाचाल अति, मानी परम अशिष्ट है।
अतः नीच क्षत्रिय अधम, दण्डनीय अति दुष्ट है॥

माँ कभी नहीं चाहती, कि वह पुत्र को दण्ड दे, उसकी सदा इच्छा यही रहती है, सदा उसे प्यार ही करती रहे, सदा

---

* चित्रकेतु की धृष्टता से कुपित हुई भगवती पार्वती जी कह रही हैं—"जिनके युगल चरणकमल इन सभी देवता ऋषि-मुनि आदि के भी ध्येय हैं, साक्षात् उन्हीं मङ्गलों के भी मङ्गल जगद्गुरु भगवान् सदाशिव का यह नीच क्षत्रिय निरादर पूर्वक शासन करता है, उन्हें खरी खोटी सुनाता है। इसलिये यह धृष्ट दण्ड देने योग्य है।"

उसे छाती से चिपटाकर स्नेह ही करती रहे, सदा उसके कमल मुख को चूमती रहे। सदा उसे प्रसन्न रखे। किन्तु जब बालक अति कर देता है, उसकी उच्छृङ्खलता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो माता खीझ जाती है। उसे दण्ड देने को बाध्य हो जाती है। छड़ी लेकर मारने और रस्सी लेकर बाँधने तक का अभिनय करती है। उस रोष में भी उसका अगाध स्नेह भीतर-ही-भीतर भरा रहता है। पुत्र का अनिष्ट हो यह उसकी भावना नहीं रहती। उसने जो अक्षम्य अपराध अब किया है, उसे फिर न करे—इसे अपराध की लत न पड़ जाय—इसीलिये वह डाँटती है। इसीलिये उसे ऊपर से क्रोध दिखाती हुई ताड़ना देती है। बड़ों की ताड़ना भी सभी को नहीं मिलती भाग्यशालियों को ही वह प्राप्त होती है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब चित्रकेतु ने भगवान् सदाशिव को बहुत-सी उलटी-सीधी न कहने योग्य बातें कहीं, तब शिवजी ने तो हँसकर टाल दी, किन्तु शिवा से ये बातें सहन न हुई। वे उसकी हँसी उड़ाती हुई व्यङ्ग वचनों में अपने को नीच बताती हुई और उसको तिरस्कारपूर्वक बड़ा बताती हुई उसकी व्याज प्रशंसा-सी करने लगी। फिर भगवती पार्वती बोली—"धन्य भाग! धन्य भाग! आज तक तो भगवान् शिवजी कोई शासक न रहने के कारण स्वेच्छाचार करते रहे। जैसा मन में आता वैसा लोक वेद विरुद्ध आचरण करते रहते थे। अब ये हमारे कोई नये शासक उत्पन्न हुए हैं। हम जैसे निर्लज्ज और सदाचार से रहित पुरुषों के ये प्रभु हैं। ये हमारी चर्या में सुधार करना चाहते हैं। ये शासक, सुधारक, उपदेशक, धर्म प्रवर्तक, दंड विधायक और अजितेन्द्रियों को सदाचार का पथ प्रदर्शन करने वाले हैं।"

पार्वती जी के समीप ही उनकी जया विजया दो सखियाँ

चँवर डुला रही थीं। जया कुछ प्रगल्भा थी अतः उसने पार्वतीजी को शान्त करते हुए कहा—"महारानी जी ! जाने भी दो। भगवान् ने कुछ नहीं कहा। इसने लौकिक धर्म की बातें कही हैं।"

रोष में भरकर भगवती शैलकुमारी बोलीं—"ये बातें धर्म की हैं, या अधर्म की। यही सबसे बड़ा धर्मात्मा है। इसने ही सर्व धर्म समझने का ठेका ले रखा है। जो वेदों के प्रकटकर्ता हैं, सृष्टि के रचयिता हैं, अयोनिज हैं, धर्म के प्रवर्तक हैं, सब के पितामह हैं, वे ब्रह्माजी धर्म के मर्म को नहीं जानते ? क्या शिवजी उनके सम्मुख ऐसा आचरण नहीं करते ? क्या भगवान् कमलयोनि ने शंकर के ऐसे आचरण की कभी आलोचना की है ? यह नीच भगवान् भृगु से भी अधिक तेजस्वी और तपस्वी हो गया। जो प्रजापति हैं, जिन्हें सुर असुर सभी नमस्कार करते हैं, जो समस्त लोक के वन्दनीय और पूजनीय माने जाते हैं। जो परम यशस्वी और तपस्या की मूर्ति ही माने जाते हैं। उनके अतिरिक्त वसिष्ठ, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, अत्रि और मरीचादि ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, प्रजापति हैं, वे इस अविनय को नहीं समझ सकते ?"

ये जो सम्मुख बालरूप में सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार बैठे हुए हैं, ये तो शिवजी के भी अग्रज हैं, सबके पूजनीय और वन्दनीय हैं, इनके पूर्वजों के भी पूर्वजों के अर्चनीय हैं। ये तो बाल ब्रह्मचारी हैं इन्होंने तो कभी स्त्री का स्पर्श तक नहीं किया, यदि शिवजी की यह क्रीड़ा इन्हें अनुचित और सदाचार के विरुद्ध लगती, तो यहाँ ये इस प्रकार हाथ जोड़े हुए सभा में विनीत भाव से क्यों बैठे रहते।

इनकी बगल में ही ये वीणा दबाये त्रैलोक्य वन्दित बाल ब्रह्मचारी तपोधन नारद जी बैठे हैं, जो समस्त विद्याओं के आचार्य हैं सदाचार के प्रवर्तक हैं। भक्ति के संस्थापक हैं, भग-

वान् के अवतार हैं, यदि भगवान् सदाशिव के आचरण को ये निषिद्ध समझते, मर्यादा के विरुद्ध अनुभव करते, तो ये इस प्रकार आकर शिवजी से प्रश्न क्यों किया करते? क्यों उनकी आकर उपासना करते?

ये योगीश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कपिल ज्ञानावतार और सतयुग के युगावतार माने जाते हैं। संसार में इनसे बढ़कर ज्ञानी कहाँ मिलेगा? कौन इनके ज्ञान की थाह पा सकता है? कामेच्छा और विषय भोग की अभिलाषा तो इन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकती। ये स्वयं आकर शिवजी के चरणों में अपना मस्तक रगड़ते हैं, ये स्वयं आकर भगवान् से शिक्षा ग्रहण करते हैं, धर्म के मर्म को समझते हैं, यदि शिवजी को ये सदाचर च्युत समझते तो यहाँ आकर शिव वन्दना क्यों करते? क्यों इन योगेश्वर की आकर श्रद्धा भक्ति के साथ उपासना करते? राजवंशों के प्रवर्तक ये भगवान् स्वायंभुव मनु बैठे हैं और भी अनेकों मन्वन्तरों का शासन करने वाले और कर चुकने वाले बहुत से मनु यहाँ समुपस्थित हैं। जो इसके बाप के बाप के भी पूजनीय और माननीय हैं, इन्होंने शिवजी के व्यवहार को कभी धर्म विरुद्ध नहीं बताया, यही एक परम सदाचारी धर्मात्मा क्षत्रियाधर्म प्रकट हुआ है, कि शिवजी की चर्या को दोषपूर्ण बताता है।

मनुष्य स्वयं जैसा होता है वैसा ही वह दूसरों को भी समझता है। आँख में जैसा भी शीशा लगा ले, वैसा ही संसार दिखाई देता है। यह स्वयं क्रूर है, अतः सर्वत्र क्रूरता ही देखता है।

जया ने कहा—"महारानीजी! आपका तो बच्चा ही है, क्षमा कर दो इसे।"

भगवती ने रोष के स्वर में कहा—"क्षमा करने योग्य अपराध किया होता तो मैं इसे अवश्य क्षमा कर देती, किन्तु इसने तो

अक्षम्य अपराध किया है। जो समस्त मङ्गलों के भी मङ्गल स्वरूप है। स्वयं साक्षात् मंगल की सजीव मूर्ति ही माने जाते हैं, जो समस्त लोकों के गुरु माने जाते हैं उन शङ्कर का इसने निश्शंक होकर भरी सभा में सबके सम्मुख अपमान किया है उन्हें डाँटा है, अपना शासन चलाया है। सब पापियों की निष्कृति हो सकती है, किन्तु गुरुद्रोही की निष्कृति नहीं। आज यदि मैं इसे क्षमा कर दूँगी, तो इसकी देखादेखी और भी लोग अपराध करेंगे, ऐसा अपराध करने से उन्हें कोटि कल्पों तक नरक की अग्नियों में पचाना पड़ेगा। अतः इस समय क्षमा करना इसके लिये भी हितकर नहीं है और संसार के लिये भी अहितकर है। यदि अब इसे अपने किये का दण्ड तत्क्षण मिल जायगा तो यह भी इस घोर पाप से निवृत्त हो जायगा और संसारी लोग भी सावधान हो जायँगे, कि शिव निन्दा करने वाले का किसी भी प्रकार कल्याण नहीं हो सकता। अरे, देखो तो सही इसे अपनी श्रेष्ठता का कैसा अभिमान है। जिनके युगल अरुण चरण कमलों का ध्यान करके ब्रह्मादिक देवता अपने को कृतार्थ समझते हैं, उन्हीं के प्रति यह द्वेषभाव रखता है। ऐसा अभिमानी पुरुष भक्तभयहारी अकिंचनों के धन, अमानियों के सर्वस्व भगवान् विष्णु के चरणों के निकट रहने योग्य नहीं है। इसलिये मैं शाप अवश्य दूँगी।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब पार्वती जी ने ये बातें कहीं तब तो सभी सभा के लोग चौकन्ने हो गये। सभी ने समझा पता नहीं इस अशिष्ट विद्याधर को माताजी क्या शाप दे। उसी समय पार्वती जी ने कहा—"अच्छा, बेटा! और तुझे क्या शाप दूँ, मैं कहती हूँ ये बात तेंने आसुरी भाव में भरकर कही हैं। उस भाव से तेरी बुद्धि विपरीत बन गई है अतः कुछ दिन के लिये तू असुर हो जा। तुझे आसुरी योनि में

फिर से जन्म लेना पड़े। वहाँ तू भर पेट देवताओं की निन्दा करना, मनमाना द्वेष करना। आसुरी योनि भोग लेने पर तेरी शुद्धि हो जायगी। बच्चाजी! यह शाप मैंने इसलिये दिया कि फिर तुझे महापुरुषों की निन्दा रूपी अपराध करने का साहस न हो।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! पार्वती जी के शाप को सुनकर सभी सभा के सदस्यों ने साधु-साधु कहकर उसका अनुमोदन दिया। सभी ने देखा इस शाप से चित्रकेतु का मुख तनिक भी म्लान नहीं हुआ वह उसी प्रकार प्रसन्न मुख बना रहा। शाप को सुनते ही वह गम्भीर होकर अपने विमान से उतर पड़ा और अत्यन्त नम्रतापूर्वक पार्वती जी को प्रसन्न करने के निमित्त उनके पैरों पर पड़ गया।"

छप्पय

यों कहि दीयो शाप शिवा ने शिक्षा के हित।
अधम आसुरी योनि पाइ फल भोगे परिमित॥
करे न शिव अपराध अधिक अपमान कहीं तू।
विष्णु चरण की शुद्ध दासता जोग नहीं तू॥
शोक मोह कछु नहिँ भयो, शम्भु प्रिया को शाप सुनि।
बचन सतीसन यह कह्यो, चित्रकेतु पद बन्दि पुनि॥

चित्रकेतु की सुख-दुख में समता

[४३४]

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके ।
देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥
अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनी ।
यन्मन्यसे असाधूक्तं मम तत्क्षम्यतां सति ॥*

(श्री० भा० ६ स्क १७ अ० १७, २४ श्लो०)

छप्पय

मातु तुम्हारो शाप हर्षयुत ग्रहण करूँ मैं ।
परम अनुग्रह मानि शीश निज जननि धरूँ मैं ॥
शाप अनुग्रह देव नहीं स्वेच्छा तैं देवें ।
करे पूर्व जस कर्म उन्हें ई सब जनि लेवें ॥
चक्र सरिस संसार महँ, सुख-दुख आवत भाग्यवश ।
शाप अनुग्रह के निमित, कर्म करे नर है अवश ॥

भक्त प्रभु से मोक्ष नहीं चाहते, देवयनि नहीं चाहते, आवागमन को मिटाने वाली मुक्ति भी नहीं चाहते, वे तो चाहते हैं

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवती पार्वती के शाप देने पर विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक उनसे कहने लगे—"हे अम्बिके, मैं तुम्हारे दिये हुए, शाप को सहर्ष अञ्जलि में ग्रहण करता हूँ । क्योंकि देवताओं के द्वारा प्राणियों को जो भी कुछ शाप या अनुग्रह के वचन कहे जाते हैं, वे उनके पूर्व जन्म के कर्मों के

अचला भक्ति, प्रभु पाद पद्मों में, सुदृढ़ अनुरक्ति। वे आर्त होकर अपने इष्ट जीवन धन के पाद-पद्मों में रो-रोकर प्रार्थना करते हैं– "हे प्रभो! हमारा चाहे सहस्रों लाखों योनियों में जन्म हो, शूकर, कूकर, श्वपच चांडाल किसी योनि में चाहे उत्पन्न होना पड़े। पृथ्वी पर, स्वर्ग में, पाताल में, नरक में या नरकों से भी बढ़कर जो दुखदाई लोक हो उनमें हमें रहना पड़े। इन सबके लिये हम सहर्ष तैयार हैं, हम आपसे इसके लिये प्रार्थना नहीं करते कि आप हमारे प्रारब्ध और संचित कर्मों को मेंट दें। हे अशरण शरण! हे भक्त भय भंजन! हे शरणागत प्रतिपालक! हमरी आपके चरणारविन्दों में यही प्रार्थना है, यही भिक्षा हम आपसे माँगते हैं कि किसी भी योनि में हों आपके भक्त बनकर रहें। हमारी सुदृढ़ अचला भक्ति हो। मरण समय में आपके चरणों का स्मरण बना रहे।" इसी कारण भक्त जहाँ भी जाते हैं वहीं वैकुण्ठ बना लेते हैं। वे स्वयं तो तरे हो हैं अपने संसर्गियों को भी तार देते हैं। भक्त के लिये घृणास्पद तो कुछ है ही नहीं। वे तो सब में अपने इष्ट का दर्शन करते हैं इष्ट की प्राप्ति ही परम सिद्धि है। फिर उन्हें असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, पशु पंक्षी इनमें से किसी भी योनि से क्यों द्वेष होने लगा। वह भी तो हमारे इष्ट का ही घर है। हम तो जहाँ भी रहेंगे इष्ट के ही घर में रहेंगे। हमारा मन तो उन्हीं में तल्लीन रहेगा। अतः भक्त भगवद् भक्ति को छोड़कर और किसी की आकांक्षा नहीं करते। कोई अनुग्रह कर दे तो हर्ष नहीं, शाप दे-दे तो विषाद नहीं।

फल स्वरूप ही होते हैं। हे सती! आपको मैं प्रसन्न इसलिये नहीं कर रहा हूँ कि आप मुझे शाप से मुक्त कर दें। किन्तु हे भामिनी! आप को जो मेरे बचन अनुचित प्रतीत हुए हैं, उनके लिये ही क्षमा याचना करता हूँ। आप मुझे क्षमा कर दें।"

क्योंकि ये सब तो दैव की गति से कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। इसमें हर्ष शोक करने से क्या लाभ ?

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवती पार्वतीजी का शाप सुनकर महाराज चित्रकेतु जब उनके चरणों में पड़े, तब सबने यही समझा कि यह विद्याधरों का राजा शाप से डर गया इसी भ्रम को मिटाने के लिये विनीत भाव से महाराज चित्रकेतु बोले- "हे जगज्जननो ! हे माँ ! मैं तुम्हारे शाप को सिरसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ। आपने जो शाप दिया है, वह सफल हो।"

इतना सुनते ही पार्वतीजी तो भौंचक्की-सी रह गईं। यह बात नारदजी के ही सम्बन्ध में सुनी थी, कि उन्होंने दक्ष के शाप को सहर्ष स्वीकार कर लिया। किन्तु वह सुना ही था, यहाँ तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अत्यन्त आश्चर्य के साथ गिरिराज कुमारी ने पूछा—"बेटा ! अरे, तुम बड़े साहसी हो। वरदान को तो हमने सहर्ष स्वीकार करते हुए अनेकों को देखा, किन्तु शाप को इतनी प्रसन्नता से स्वीकार करते तो आज तक हमने किसी को देखा नहीं। तुम मेरे दिये शाप को ऐसे ग्रहण क्यों कर रहे हो ? मैंने तो तुम्हारा अनिष्ट ही किया है।"

यह सुनकर विनीत भाव से चित्रकेतु बोले—"माँ ! पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, माँ कभी कुमाता नहीं होती। आप तो अपनी सन्तानों का अनिष्ट कर ही नहीं सकतीं। आपकी बात तो पृथक् है, कोई भी प्राणी किसी का न अनिष्ट कर सकता है और न सुख ही पहुँचा सकता है। न कोई किसी को स्वेच्छा से वरदान ही देने में समर्थ है न शाप ही दे सकता है। पूर्वजन्म के जिसके जैसे कर्म होंगे प्रारब्धानुसार वैसा ही उन्हें सुख-दुख प्राप्त हो जायगा। शाप और वरदान देने वाले तो केवल निमित्त मात्र होते हैं, जो कुछ मिलता है, वह तो प्रारब्धानुसार ही मिलता है। मेरा कोई ऐसा ही कर्म रहा होगा। यही प्रारब्ध शेष होगा

आपका इसमें क्या दोष है, जैसा मैंने कभी किया होगा, उसका वैसा फल तो कभी न कभी भोगना ही है। यह जीव अज्ञान से मोहित होकर ही संसार चक्र में—नाना योनियों में—स्वकृत कर्मानुसार सुख-दुख उठाता हुआ, जन्मता तथा मरता रहता है। कौन किसे दुख-सुख दे सकता है। विवेक हीन पुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं, उसने हमें बड़ा दुख दिया, उसने हमें अभूत पूर्व आनन्द पहुँचाया। सब स्वकर्म सूत्र में बँधकर विवश होकर कर्म करते रहते हैं।"

पार्वतीजी ने कहा—"अरे भैया! फिर भी तो शाप तो शाप ही है, वरदान-वरदान ही है। तुम्हें मेरे शाप से तनिक भी दुःख नहीं हुआ क्या?"

गम्भीर होकर चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! दुख वाली तो कोई बात मुझे दीखती नहीं। यह संसार रूप एक सरिता है। उसमें सत्व, रज और तम ये तीनों गुण ही प्रवाह हैं? प्रवाह में कभी काँटा भी आ गया, कभी फूल बह आये कभी फल ही पड़ कर थिरकने लगे। इसी प्रकार शाप, अनुग्रह, स्वर्ग नरक, बन्ध, मोक्ष तथा सुख-दुख ये तो सब आते ही जाते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष इनमें समभाव रखते हैं। वे इनमें ममत्व नहीं करते। इनके परिणाम से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते।"

पार्वतीजी ने कहा—"भगवान् तो सदा सर्वदा सत्स्वरूप, चैतन्य स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप हैं। उनमें गुण प्रवाह कहाँ से आ गया?"

चित्रकेतु ने कहा—"माताजी! भगवान् कुछ गुणों के अधीन थोड़े ही हैं। भगवान् अपनी बनी-ठनी क्षण-क्षण में रूप रंग बदलने वाली माया देवी के द्वारा इन सम्पूर्ण भूतों की तथा उनके बन्ध, मोक्ष और सुख-दुख की रचना करते हैं।"

पार्वतीजी ने पूछा—"तो क्या वे स्वयं फिर अपनी ही माया के चक्कर में फँस जाते है ?"

दृढ़ता के स्वर में चित्रकेतु ने कहा—"नहीं माताजी ! उन्हें चक्कर-फक्कर से क्या प्रयोजन ? वे स्वयं तो इन बन्ध, मोक्ष, सुख-दुख, आदि द्वन्दों से सदा सर्वदा पृथक् ही बने रहते हैं।"

हँस कर पार्वतीजो ने कहा—"तब, भैया जीवों में जो यह विपमता दिखाई देती है यह क्यों है ? इससे तो भगवान् का पक्षपात सिद्ध होता है, कोई सुख भोग रहा है, कोई दुख की दावाग्नि में जल रहा है, कोई रो रहा है कोई हँस रहा है, इसका क्या कारण है ?"

इस पर चित्रकेतु ने कहा—"जगज्जननी ! आप सब जानती हैं, आप ही तो सबको मूल कारण हैं। भगवान् में विषमता दोष नहीं है। वे तो सर्वथा निर्दोष हैं वे सर्वत्र समान भाव से व्याप्त हैं। उनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। उनका न कोई अपना है न पराया, न कोई जाति वाला है, न परिवार वाला। वे रागद्वेष से रहित हैं, द्वंद्वातीत हैं, निर्द्वंद रह कर सर्वदा सुख स्वरूप से अवस्थित रहते हैं। इन संसारी सुखों में न उन्हें राग है न द्वेष। जब एक वस्तु में राग होता है, तभी दूसरी से घृणा होती है संग से आसक्ति बढ़ती है आसक्ति से ही क्रोध होता है। यह सब उनमें कुछ नहीं हैं। ये जो सब जीव, माया के कारण अपने में पाप पुण्य का आरोप कर लेता है, इसीलिए अपने को सुख-दुखो अनुभव कहने लगता है। इसमें मेरा हित है इसमें अहित है, इसे करने से दुःख होगा, न करने से सुख होगा, यह बन्धन है, यह मोक्ष है, यह जन्म है या मरण है। इस प्रकार द्वंद कल्पना ही संसार को चलाने में कारण है। ये ही संसृति के हेतु हैं।

पार्वतीजी ने हँसकर कहा—"तुम तो भैया ! बड़े ज्ञानी हो, प्रतीत होता है तुमने तो भगवान् की माया को जीत लिया है,

फिर तुम मेरे सामने अब दीनता क्यों दिया रहे हो, मुझसे क्या चाहते हो ?"

दृढ़ता के स्वर में चित्रकेतु ने कहा—"माताजी ! आप कुछ अन्यथा न समझें। मुझे शापकी तनिक भी चिन्ता नहीं इस बहते हुए संसार प्रवाह में क्या शाप, क्या वरदान, ये तो बच्चों की बातें हैं। हे देवि ! मैं जो आपके सम्मुख विनय कर रहा हूँ, वह किसी भय से नहीं। मैं शाप से मुक्त होने के लिए आपकी प्रार्थना नहीं कर रहा हूँ। मेरी विनय शाप को हटाने के लिये नहीं है। एक नहीं ऐसे सहस्रों शाप मुझे मिल जायँ, तो भी मैं विचलित नहीं होने का। आसुरी योनि क्या कोई बुरी है। असुरों में क्या भगवद्भक्त नहीं हुए हैं ? योनि तो आवरण मात्र है। हृदय में भगवान् की भक्ति हो कोई योनि प्राप्त हो जाय। मैं विनय इसीलिए कर रहा हूँ, कि मेरी सत्य बात भी आपको बुरी लगी। मैंने तो एक शिष्टाचार के नाते अपनी बुद्धि से सत्य बात कही थी। आपको इससे दुख हुआ, तो उसी अविनय के लिये क्षमा माँग रहा हूँ। मेरा कथन आपको अनुचित प्रतीत हुआ उसके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। शाप का तो मुझे लेशमात्र भी भय नहीं।"

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार कहकर चित्र केतु ने भगवान् शंकर और पार्वती के पाद पद्मों में प्रणाम किया और उनके उत्तर के बिना प्रतीक्षा किये अपने विमान में बैठकर चला गया। उसकी ऐसी निःस्पृहता और समता को देखकर सभा में जितने भी सभासद बैठे थे, सबके सब चकित रह गये। सभी अपने मन में सोचने लगे—"देखो, इस विद्याधर की कैसी सुदृढ़ निष्ठा है। इसकी बुद्धि समत्व में स्थित हो गई है। प्रतीत होता है यह भगवान् संकर्षण की उपासना के प्रभाव से इस दुस्तर माया को तर गया है। प्रतीत होता है यह माया मोह रूप

अगाध सागर के परली पार पहुँच गया है। तभी तो इतने बड़े शाप की बात सुनकर भी इसका मुख म्लान नहीं हुआ भ्रकुटियों में रञ्चक मात्र भी वक्रता नहीं आई।"

भगवती पार्वती जो भी चकित हो गईं। उनके लिये यह एक रहस्यमय आश्चर्य की बात हुई। वे शिवजी के श्रीमुख की ओर रहस्यमय दृष्टि से देखती-की-देखती ही रह गईं। सर्वान्तर्यामी शिव उनके मनोभावों को समझ गये और हँसते हुए उनके सामने भगवद्भक्तों के महत्व का बखान करने लगे।"

छप्पय

शाप अन्यथा करहु विनय यहि हेतु करौं नहि।
होहि भोग को नाश भाग्यवश दुःख आदि सहि॥
अविनय मेरी समुझि मातु तुम कुपित भई अति।
तातें विनती करी और कछु तुम समझो मति॥
सती शम्भु पद वन्दि कें, चित्रकेतु पुनि चलि दये।
सती सभासद सभा के, समता लखि विस्मित भये॥

शिवजी द्वारा भगवद्भक्तों का महत्व

[४३५]

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निस्पृहाणां महात्मनाम्।
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १७ अ० २७, २८ श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि बोले—शिवा ! लखि महिमा भक्तनि की।
सदा एक मति रहे स्वर्ग नरकनिमहँ इनकी॥
जो हैं भगवद्भक्त कहो तिनकूँ काको भय।
तीनि काल महँ सदा निहारें जगकू प्रभुमय॥
देइ न सुख दुख दूसरो, भ्रमवश नरपशु कहत हैं।
माया के वश जीव ने, करे करम सो सहत हैं॥

जिसे एक देश का राज्य प्राप्त हो गया है, जो सम्राट् बन

---

* चित्रकेतु की निस्पृहता देखकर पार्वती जी को सुनाते हुए शिवजी कह रहे हैं—"सुश्रोणि ! तुमने अद्भुत कर्मा श्रीहरि के दासानुदासों का माहात्म्य देख लिया न ? देखो, ये महात्मा कितने निस्पृह होते हैं। बात यह है कि जो नारायण परायण हैं वे सबके सब निर्भय होते हैं, उन्हें किसी बात का भय नहीं। क्योंकि वे स्वर्ग, नरक, मोक्ष सभी को समान भाव से देखते हैं।"

गया है, वह चाहे रत्न जटित सिंहासन पर बैठे या अपने राज्य की नदी की बालू में बैठे सर्वत्र सम्राट् ही हैं। कहीं भी उसे दुःख नहीं। अपने राज्य के किसी भी स्थान में रहने से उसका अपमान नहीं, तिरस्कार नहीं। उसके लिये अपने राज्य में सर्वत्र समभाव है। अपने राज्य में जो बुद्धि राजा की है वही राजपुत्र की है वह भी राज्य का अधिकारी है। राज्य की प्रत्येक वस्तु को वह अपनी मानता है। उसके राज्य में सुवर्ण-खानि है उन्हें भी अपनी कहता है, कोयले की खानि है उनमें भी उसका उतना ही ममत्व है अपनी वस्तु छोटी हो बड़ी हो, अच्छी हो बुरी हो अपनी ही है। इसी प्रकार भगवद्भक्त इस जगत् को अपने स्वामी श्रीहरि की लीलास्थली मानते हैं। उनका निश्चय है, हमारे स्वामी की इच्छा के विरुद्ध किसी वस्तु का अस्तित्व रह ही नहीं सकता, सबके पति वे हमारे स्वामी ही हैं। हम उनके एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। प्रधान दायभाक् हैं। हमारे स्वामी की जो वस्तु हैं वे हमारी ही हैं। हमारे स्वामी हमें जहाँ रखें वही आनन्द है। वही हमारा घर है, यदि हम अपने स्वामी को न भूलें तो। यदि स्वामी को भूलकर अपने को ही सब कुछ समझकर निजत्व परत्व का भेदभाव स्थापित कर लें, तो हमें दुःख-सुख का भागी बनना पड़ेगा।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! जब विद्याधराधिपति चित्रकेतु ने शाप की बात सुनकर भी पार्वती जी के प्रति क्रोध न किया। उलटी उसने क्षमा याचना ही की और बिना शाप मुक्ति की प्रार्थना किये हुए श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके हँसता हुआ चला गया, तब तो पार्वती विस्मित हुईं उन्हें विस्मयमायविष्ट देखकर हँसते हुए भगवान् भोलेनाथ उनसे कहने लगे—"पार्वती जी! देखा तुमने भगवद्भक्तों का माहात्म्य? आई कुछ समझ में बात? अब तुम्हारा क्रोध शान्त हुआ?"

कुछ लज्जित-सी होती हुई हिमांचल कुमारी बोली—"क्या बताऊँ महाराज! आप ईश्वरों की लीला कुछ समझ में नहीं आती, मैंने तो समझा यह बड़ा अभिमानी है यह तो कोई बड़ा भक्त निकला। महाराज! यह किस देवता का भक्त है?"

शङ्करजी बोले—"देवि! वैसे तो यह भगवान् के ही भक्त है, किन्तु भगवान् से भी अधिक यह भगवान् के भक्तों का भक्त है। दासों का अनुदास है। नारद जी और अंगिरा मुनि का यह चरण सेवक है। जिन्हें भगवद् भक्ति प्राप्त हो चुकी है, उन्हें संसारी किसी भी वस्तु की स्पृहा नहीं रह जाती। वे सर्वथा निःस्पृह हो जाते हैं। उनके लिये स्वर्ग, नरक, सब समान हैं। वे संसार में किसी भी दुःख से किसी व्यक्ति से डरते नहीं यहाँ तक कि भगवान् को भी वे खरी खोटी सुनाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। भगवान् भी जब मुक्ति लेकर उनके समीप जाते हैं, तो निर्भीक होकर कह देते हैं। हमें मुक्ति नहीं चाहिये। हमें यदि बन्धन से मुक्ति अच्छी लगती हो, हमारी मुक्ति और बन्धन में कुछ भेद बुद्धि हो, तब तो बंधन को छोड़कर मुक्ति को ग्रहण करें भी हमारे लिये तो दोनों समान है। जन्म होता है होता रहे। नरक जाना पड़े चले जायँगे भगवान् उन्हें बलपूर्वक मुक्ति देते हैं, किन्तु वे उसे ग्रहण नहीं करते। भगवद्भक्तों से वे सदा डरते रहते हैं ऐसा न हो कि कहीं भक्तों का अपराध हो जाय, वे विष्णु भृत्यों के सदा भृत्य बने रहते हैं। देखो, तुमने कुपित होकर इन राजर्षि चित्रकेतु को शाप दे दिया। वे सामर्थ्यवान् थे चाहते तो उलट कर वे तुम्हें भी शाप दे सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया उलटी तुम्हारी अनुनय विनय की। क्योंकि मैं वैष्णव हूँ और तुम मेरी सहधर्मिणी हो। दूसरों के दोष देखना तो दूर की बात है, भक्त मन से भी किसी के दोष का चिन्तन नहीं करता। वह भूल में भी ऐसा काम नहीं करता, जिससे भगवद्भक्तों को संकोच

हो। उनके दोषों को प्रत्यक्ष देख लेने पर भी नहीं कहता उलटा उनका समर्थन करता है।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! यह बात तो कुछ हमारी समझ में आई नहीं। जो दोष जिनमें नहीं उनका ईर्ष्या वश आरोप करके उनकी निन्दा करना यह तो महापाप है किन्तु जो दोष जिसमें प्रत्यक्ष है उन्हें कह देने में तो हम कोई दोष समझते नहीं आप कहते हैं, पापी के पापों को न कहकर भक्त लोग उलटे उनका समर्थन करते हैं यह तो बुद्धि से परे की बात है तब तो सब लोग खुलकर पाप करेंगे। पापी के पाप की भला-भाँति आलोचना होनी चाहिये जिससे समाज में दुराचार न फैलने पावे। समाज का सुधार हो सदाचार का प्रचार हो।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! सबके अधिकार पृथक्-पृथक् हैं। सभी सबके कामों को करने लगें तो समाज में संकरता छा जायगी। राजा प्रजा के दोष देख सकता है उसे दण्ड दे सकता है। शासक को प्रजा का शासन करने का, उसके अपराधों का दण्ड देने का अधिकार है। आचार्य शिष्यों के दोषों को देखकर धर्मानुसार उन्हें सचेत कर सकता है। समझा-बुझा सकता है। पिता पुत्र के दोषों को देखकर ताड़न कर सकता है। हम सर्व साधारण लोग दूसरों के दोषों को कहते फिरें उनके पापों को प्रकट करते फिरें, समाज में उनकी बुराई करते रहें तो हमें क्या लाभ होगा। जिसे जो बुरी टेव पड़ गई है, वह उस निन्दा के भय से छिपकर करेगा, मानेगा तो है नहीं। उल्टे निन्दा करने से उसके संस्कार हमारे में आवेंगे, उसके पापों का चिन्तन करते रहने से हमारे भावों में भी उन पापों के परमाणु प्रवेश करेंगे। भक्त अपने को समाज सुधारक नहीं मानता। वह तो सोचता है मैं पहिले अपने को ही सुधार लूँ यही बहुत है। यदि सभी यही सोचकर अपने-अपने सुधार

में लग जायँ, तो समाज का सुधार स्वतः ही हो जाय। लोग अपने को तो सुधारते नहीं, दूसरों का सुधार करने दौड़ते हैं। लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें, क्या उन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है। क्या वे कभी भूलकर भी वासना के वशीभूत होकर सदाचार के विरुद्ध कभी कोई काम नहीं करते? यदि यह बात नहीं है, तो फिर दूसरों की निन्दा करने से लाभ ही क्या? हम प्रत्यक्ष अपने जीवन में अनुभव करते हैं। हम जानते हैं पर स्त्री पर दृष्टि डालना घोर पाप है। शक्ति भर हम बचते भी हैं, किन्तु कभी ऐसा अकस्मात संयोग हो जाता है, इच्छा न होने पर भी हमारा मन चञ्चल हो जाता है। जब हम अपने मन पर ही अधिकार नहीं कर सकते। उसे ही कुपथ पर जाने से नहीं रोक सकते तो दूसरों से कैसे आशा रखें। सभी निन्दा से डरते हैं, किन्तु वासनाओं के वशीभूत होकर न करने योग्य कामों को कर जाते हैं भक्त उनकी निन्दा करना उचित नहीं समझते। समर्थन इसलिये कर देते हैं, कि भक्त को संकोच न हो। वह हमसे भयभीत न हो। इस विषय में मैं आपको एक परम वैष्णव भक्त का सुन्दर-सा मनोहर दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक वैष्णव आचार्य थे। उनके समीप उनके शरणापन्न और भी बहुत से भगवद्भक्त थे। बहुत से उन्हीं से दीक्षित थे। उनमें एक बड़े साधु-सेवी परम निष्ठावान् सन्त थे। गुरुदेव ने उन्हें नित्य ही भगवान् की सेवा के लिये पुण्यतोया कावेरी से जल लाने की सेवा सौंपी थी। वे उस कैङ्कर्य को बड़ी श्रद्धा भक्ति से करते और सभी सन्तों में ईश्वर बुद्धि रखते थे। वे न कभी किसी वैष्णव की निन्दा करते, न उनके दोषों को ही देखने का यत्न करते। यही समझते की येसब हमारे स्वामी के ही अनुरूप स्वरूप हैं।

एक बार वे भगवती कावेरी से जल का घड़ा लेकर आ

रहे थे। मार्ग में उन्होंने देखा कि अपने ही यहाँ के एक वैष्णव बिना जल लिये हुए लघुशङ्का कर रहे हैं। वैष्णवों के लिये बिना जल लेकर लघुशङ्का को जाना एक शौच सम्बन्धी बड़ा दोष है। शास्त्रीय नियम तो ऐसा है जितनी बार शौच या लघु-शङ्का जाय, उतनी ही बार स्नान भी करे, किन्तु स्नान भी कई प्रकार के हैं भस्म स्नान, मन्त्र स्नान, पञ्च स्नान, वस्त्र स्नान, प्रत्येक समय सम्पूर्ण शरीर से स्नान करना तो कठिन है, अतः लघुशङ्का को जाय तो जल लेकर जाय, आकर तीन बार हाथ धोवे पात्र को मले, हाथ पैर मुख को धोवे तीन कुल्ला करे यही पञ्च स्नान हो जाता है तब शुद्धि होती है। वे वैष्णव लघुशङ्का के लिये जल भी नहीं लिये थे अतः उन्हें बड़ी लज्जा लगी। शङ्का भी हुई कि ये सन्त जाकर आचार्य चरणों में जाकर मेरे अपराध का निवेदन कर देंगे। इसलिये वे कुछ भयभीत से हो गये।

वे सन्त इनके भाव को ताड़ गये। उन्हें बड़ा मानसिक दुःख हुआ, कि एक सन्त को मेरे कारण व्यर्थ ही लज्जित और संकुचित होना पड़ा। कैसे इसका संकोच दूर हो? यह सोचकर वे सिर पर घड़ा रखे ही रखे वहीं खड़े होकर लघुशङ्का करने लगे।

यह देखकर उन वैष्णव को बड़ा सन्तोष हुआ कि हम इनसे तो अच्छे ही हैं। ये तो हमसे भी गये बीते हैं। भगवान् के लिये जल ले जा रहे हैं और खड़े-खड़े मूँत रहें हैं। "यह कोई वैष्णवता है।" यह सोचकर वे प्रसन्न होते हुए चले गये।

इधर से सन्त फिर कावेरी जी में लौट आये। आकर सचैल स्नान किया। घड़े को मला फिर जल लेकर चले। वे वैष्णव तो जैसे थे वैसे ही थे, उन्होंने अपने स्वभावानुसार यह बात जाकर आचार्य चरणों में निवेदन कर दी—"महाराज! आपने उन संत को कैसा अनुचित कैंकर्य सौंप दिया है। मैंने अपनी आँखों से

देखा, वे तो भगवान् के घड़े को सिर पर रखकर खड़े-खड़े लघु-शङ्का कर रहे थे।"

आचार्य को बड़ा आश्चर्य हुआ वे सन्त तो ऐसा कर नहीं सकते। इसी बात को वे बार-बार सोचने लगे। बहुत सोचकर आचार्य ने उन्हें सबके सम्मुख बुलाया और बोले—"क्यों भाई! ये वैष्णव कह रहे हैं कि तुम भगवान् का सेवाजल लेकर आ रहे थे और उसे सिर पर रखकर खड़े-खड़े ही लघुशंका कर दी थी। क्या यह बात ठीक है?"

हाथ जोड़ सबके सम्मुख नम्रतापूर्वक लज्जित होकर सन्त ने कहा—"हाँ भगवन्! यह बात सत्य ही है मैंने ऐसा किया था। वैष्णव असत्य भाषण थोड़े ही करेंगे।"

आचार्य ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"तुमने ऐसा भैया! सदाचार विरुद्ध आचरण क्यों किया?"

नीचा सिर करके आँखों में आँसू भरकर के सन्त बोले—प्रभो! मैं तो पशु ही हूँ। पशु जो अनुचित करता है, उसके अपराध की ओर स्वामी ध्यान नहीं देते। पशु को शौच-अशौच का विवेक ही नहीं रहता। भगवान् के दिव्य देश के हाथी पर भगवान के अभिषेक के लिये नित्य जल आता है। जल लेकर हाथी आता है तो रास्ते में लघुशंका दीर्घशंका भी करता आता है। पशु होने से उसके इस अशौच को ओर कोई ध्यान नहीं देते। मैं भी तो एक दो पैर वाला नरपशु ही हूँ। मेरा अपराध करने का स्वभाव है आप गुरुजनों का स्वभाव क्षमा करने का है मेरे अपराध को क्षमा करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसी का नाम साधुता है। पिशुन और अपकारी के भी दोष को प्रकट न करके अपने ही दोषों को सदा देखता रहे यही वैष्णवता के लक्षण हैं। कभी अपनी विद्या प्रभुता तथा भक्ति का अभिमान न करे। यही सोचे

मैं सबका दास हूँ। देखिये, राजर्षि चित्रकेतु को तनिक-सा मद ने स्पर्श कर लिया था, इसीलिये लोकगुरु शिवजी का लक्ष्य करके सत्य होने पर भी न कहने योग्य वचन कह दिये। शिवजी तो उनके भाव को समझ ही गये, इसीलिये हँसकर टाल गये किन्तु स्त्री स्वभाववश माताजी सहन न कर सकी, क्रोध में भरकर उसे शाप दे ही डाला। वे महाभागवत राजर्षि चित्रकेतु भगवती भवानी को शाप के बदले में शाप देने को सर्वथा समर्थ और शक्तिशाली थे, किन्तु उन्होंने ऐसा न करके उस शाप को सहर्ष शिर से स्वीकार किया और साथ ही शैलसुता की विनती चिरोरी की क्षमा माँगी। यही साधुता का लक्षण है। साधु अपने कारण किसी को संकोच में पड़ा नहीं देखते। इस विषय में एक भक्त का दृष्टान्त सुनिये।

एक बड़े ही साधु सेवी सदाचारी सन्त थे। उन्हें न कोई धूम्रपान आदि का व्यसन था न कोई संसारी इच्छा। उन्हें साधु-सेवा का बड़ा व्यसन था। जो भी जैसा भी साधु आ जाय उसकी वे भली-भाँति सेवा करते उसे असन्तुष्ट नहीं होने देते। एक दिन की बात है साधुओं की पंक्ति हो रही थी, उसमें एक भंगेड़ी साधु बैठे थे।

भाँग के नशा में वे अधिक प्रसाद पाते थे। प्रसाद पाने से पूर्व अपने भङ्ग के घोटने से घोटकर एक लोटा भाँग चढ़ा जाते थे उसी के नशे में खाते जाते थे। उन्होंने देखा परोसने वाले सब को परिमाण के अनुसार परोस रहे हैं। तब तो उन्होंने दो पत्तल पृथक्-पृथक् रख लीं। परोसने वाले सन्त ने इनके सामने की पत्तल पर परोस दिया। किन्तु दूसरी पत्तल पर नहीं परोसा। उन भंगेड़ी सन्त ने कहा—"इस पर भी परोसो।"

उन्होंने पूछा—"यह किनकी पत्तल है ?"

भंगेड़ी सन्त बोले—"ये मेरे भंग के सोंटे की पत्तल है। यह मुझसे भी अधिक खाता है।"

परसने वाले सन्त को कुछ बुरा लगा उन्होंने कहा—"सन्तों की पंक्तियों में सन्तों की ही पत्तलें परसी जाती हैं। सोटे लगोंटे की पत्तलें नहीं होतीं।" यह कहकर वे आगे परसते हुए चले गये।

जब आश्रम के अधिपति सन्त आये तो उन्हें देखकर भाँग के नशे में उन भंगेड़ी सन्त ने जूठी पत्तल उनके मुँह में उठाकर दे मारी और कहा—"ऐसी ही तुम साधु सेवा करते हो? मुझे प्रसाद देते हो और मेरे सोटे को भूखा रखते हो?"

इतने पर भी सन्त ने हाथ जोड़कर उनके फेंके हुए प्रसाद को बीन-बीनकर अपने वस्त्र में रख लिया और बड़े स्नेह से बोले—"आज मेरा अहोभाग्य जो सन्तों ने कृपा करके मुझे अपनी सीथ प्रसादी प्रदान की।" जब उन्होंने वह सोटे वाली बात सुनी, तो परसने वाले को बुलाया उन्हें शिक्षा दी उन सन्त से क्षमा-याचना कराई और उन्हें परसने के काम से पृथक् कर दिया। यही साधुता का आदर्श है। जब एक सन्त भूल करता रहा तो हम भी उसके प्रत्युत्तर में क्रोध करके दूसरी भूल क्यों करें। अच्छा उसी की बात बड़ी सही कालान्तर में उसे अपनी भूल प्रतीत हो जायगी। हमारे क्रोध का उतना प्रभाव न पड़ेगा, जितना साधुता का। सुनते हैं पीछे भाँग का नशा उतरने पर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने भाँग पीनी छोड़ दी।

ऐसी ही एक घटना और हुई। एक बार किसी महोत्सव पर सन्तों का भंडारा था। दूर-दूर से बहुत से सन्त पधारे हुए थे। सब फूँस की झोपड़ियों में अपने-अपने आसन लगाये हुए थे। महन्त जी सबके दर्शन को गये। एक बुड्ढे से सन्त थे उन्हें धूम्रपान करने का व्यसन था। ज्योंही वे सुन्दर चिलम भरकर लाये, दो बार मिठास के साथ घूँट मारे त्यों ही उन्हें महन्त जी

आते हुए दिखाई दिये। हुक्के को उन्होंने झट छिपा दिया, यह बात महन्त जी ने देख ली। वे शीघ्रता से उन सन्त के निकट आये। इधर-उधर की एक दो बातें करके वे पेट पकड़कर कहने लगे—"पेट में बड़ा दर्द हो रहा है क्या करें ?" यह कहकर वे पीड़ा का-सा अनुभव करते हुए उन्हीं बूढ़े सन्त के आसन पर बैठ गये और बोले दो घूँट हुक्का के कहीं मिल जाते, तो मेरा दर्द शान्त हो जाता। उनके शिष्य तो आश्चर्य चकित हो गये। महाराज कभी तमाल पत्र का स्पर्श तक नहीं करते आज धूम्र-पान की इच्छा क्यों कर रहे हैं।" उसी बीच उस वृद्ध ने सोचा—"अरे, ये भी धूम्रपान के व्यसनी हैं, तब तो कोई हानि नहीं। झट से उन्होंने छिपे हुये हुक्के को निकालकर दे दिया। महाराज अभी भरकर लाया हूँ।"

महन्त जी प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा-अच्छा लाइये।" यह कहकर उसमें उलटी-पुलटी दो फूँके मारी और मारकर बोले—"अब लीजिये, आप पीवें। वे सन्त पीने लगे; महन्तजी चले गये।

सुनते हैं पीछे जब उन्हें महन्त जी की साधुता का ज्ञान हुआ और पता चला कि यह सब अभिनय सन्त के चित्त को दुःख न हो इसलिये था तो उन्होंने उनकी सरलता और साधुता से प्रभावित होकर धूम्रपान करना छोड़ दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! क्षमा का, सहनशीलता का दण्ड से अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि चित्रकेतु भी भगवती पार्वती को कुपित देखकर कोप करने लगते और शाप के बदले में शाप दे डालते, तो नैतिक दृष्टि से तो चाहे यह ठीक कहा भी जा सकता, किन्तु साधुता के यह विरुद्ध पड़ता। समर्थ होकर भी सहन कर लेना यही साधुता का, सर्वश्रेष्ठ लक्षण है।

इसी बात को समझाते हुए शिवजी पार्वती जी से कह रहे हैं—
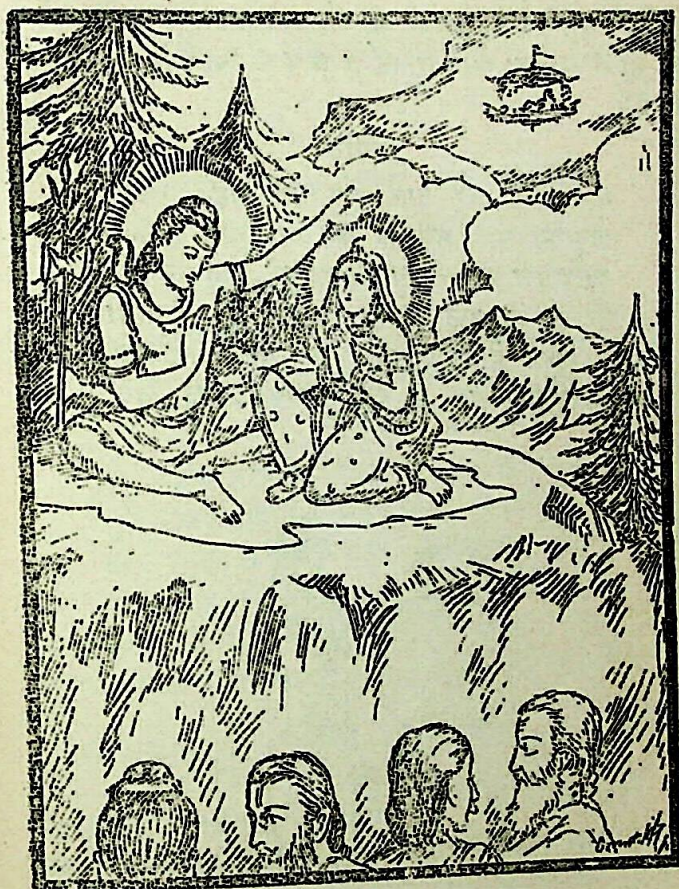
"देवि ! इससे तुम शिक्षा ग्रहण करो। भक्तों के महत्व को समझो भगवत् परायण पुरुषों के लिये शाप अनुग्रह, स्वर्ग नरक दुःख-सुख समान ही है।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शिवजी इतना ही कहकर चुप नहीं हुए वे विष्णु भक्तों का और भी माहात्म्य कहने लगे। उसे भी मैं आपको आगे सुनाऊँगा आप सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

भक्तनि के जो दास दोष देखें नहिँ जनके।
अनुचित यदि कछु करें कर्म निन्दें नहिँ उनके॥
ऋषि मुनि सुर नर चरनकमल पूजें नित जिनके।
मेरे हू जो इष्ट नृपति अनुगत हैं तिनके॥
गत विस्मय है नृप गये, घोर शाप दीयो इन्हें।
जे अच्युतप्रिय भक्त हैं, नहीं अशक्य है कछु तिन्हें॥
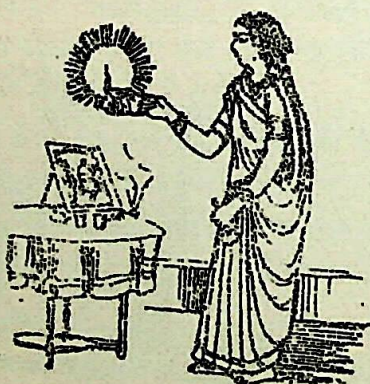
वृत्र चरित्र की समाप्ति

[४३६]

जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः।
वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः॥*
(श्री भा० ६ स्कन्द १७ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

यों महिमा गिरजेश विष्णु भक्तनि की गाई।
सुनि अति सहमी शिवा चित्तमहँ समता आई॥
बोले शुक अभिमन्यु तनय तबई त्वष्टा मुनि।
करयो इन्द्र पै कोप मरण सुत विश्वरूप सुनि॥
चित्रकेतु वे ई नृपति, असुर योनिकूँ पाइकें।
भये प्रकट दक्षिण अनल, तें मुने मख महँ आइकें॥

साधु सन्त वस्त्र पहिनते हैं, देह को सजाने बजाने के लिये

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! वे ही चित्रकेतु त्वष्टा की दक्षिणाग्नि में दानवी योनि का आश्रय लेकर उत्पन्न हुए। ये संसार में ज्ञान विज्ञान से संयुक्त वृत्रासुर इस नाम से विख्यात हुए। इस प्रकार महाराज! आपने जो वृत्र की आसुरी योनि में जन्म लेने पर भी भगवद्भक्त होने का कारण पूछा था। वह सब आप से कह दिया।"

नहीं, केवल शीतोष्ण निवारणार्थ। त्यागी लोग भी भोजन करते हैं, वे भी जल पीते हैं, स्वाद के लिये नहीं केवल क्षुधा पिपासा शान्त करने के निमित्त। अन्न, जल, वस्त्र तथा अन्य भी जीवनोपयोगी वस्तुओं को वे इसलिये ग्रहण करते हैं, कि यह शरीर भली-भाँति चलता रहे। वे उनकी सुन्दरता और मृदुता तथा सुस्वादपने को अत्यधिक महत्व नहीं देते। इसी प्रकार भक्तों का एकमात्र उद्देश्य होता है, भगवत् स्मरण। जिस योनि से भी भगवत् स्मरण हो, वही योनि भक्तों के लिये सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्र बन गये, वरुण बन गये, कुबेर बन गये और भक्ति से शून्य ही रह गये, तो वह देव योनि भी निन्दनीय और हेय है, यदि शूकर कूकर योनि से भी हरिस्मरण हो सके तो वही श्रेष्ठ है। काकभुसुण्डी को गुरु के शाप वश ब्राह्मण शरीर त्यागकर मल भक्षण करने वाली पक्षियों में चांडाल मानी जाने वाली काक योनि प्राप्त हुई थी। पीछे गुरु कृपा से ही उन्हें यह भी वरदान प्राप्त हो चुका था, कि वे इच्छानुसार जिसका चाहें, रूप रख सकते हैं। इतना होने पर भी उन्होंने हेय समझकर काक योनि को त्यागा नहीं। यही नहीं उससे उन्होंने इसलिये और भी अधिक प्रेम किया कि इसी के द्वारा मुझे भगवद्भक्ति की प्राप्ति हुई है। जटायु पक्षियों में अधम गृद्ध शरीर में थे, किन्तु उसी में इसलिये अत्यधिक हर्षित थे, कि इसमें हमें भगवान् को सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त होता है। भक्तों की दृष्टि में यह वाह्य शरीर की आकृति का कोई विशेष महत्व नहीं है। मन भगवान् में लगा रहे, योनि कोई भी मिले सभी सुन्दर है। इसलिये विद्याधराधिप महाराज चित्रकेतु आसुरी योनि में भी दुखित नहीं हुए। वहाँ भी वे जैसे के तैसे भगवत्-भक्त ही बने रहे।

श्री शङ्करजी पार्वती देवी से कह रहे हैं—"हे पार्वती! भक्तों

की दृष्टि में द्वैत रहता ही नहीं। वे तो सर्वत्र अपने सर्वज्ञ सर्व व्यापक स्वामी को ही देखते हैं। स्वर्ग हो, नरक हो, देवयोनि हो, कीट पतंग की योनि हो। प्रयाग हो, मगध हो सर्वत्र उनकी सम-बुद्धि रहती है। उनकी यह सदा दृढ़ धारणा रहती है कि कोई किसी को सुख दुख देने में समर्थ नहीं है। न कोई स्वेच्छा से किसी को शाप दे सकता है न अपने आप अनुग्रह करने में ही समर्थ है। ये जो जीवों को सुख-दुख, जन्म-मरण, शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द प्राप्त होते हैं। वे भगवान् की लीला से ही देव तिर्यक आदि देहों के संयोग से ही हुआ करते हैं। आत्मा में तो देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का भेद भाव है ही नहीं। आत्मा तो सबमें समान रूप से व्याप्त है।

इस पर पार्वती जी ने पूछा—"प्रभो! जब सभी में आत्म-सत्ता समान है तो यह देवता है, पूजनीय है, यह असुर है, अना-दरणीय है। ऐसा भेद भ्रम क्यों होता है? क्यों लोग देवताओं को श्रेष्ठ समझते हैं क्यों आसुरी योनि की निन्दा करते हैं।"

इस पर शिवजी ने कहा—"प्रिये! यह तो व्यवहार की बातें हैं। वास्तव में आत्मा में अणुमात्र भी भेद-भाव नहीं। जैसे स्वप्न में सुख-दुःख की प्रतीति भेद भ्रम के कारण ही होती है। अँधेरे में जागने पर भी सम्मुख ठूँठ को देखकर भूत का भ्रम हो जाता है। टेटी-मेढ़ी रस्सी को देखकर सर्प का भ्रम हो जाता है। दूर से काष्ठ की हथिनी को देखकर यथार्थ हथिनो का भ्रम हो जाता है। यह सब अज्ञान के कारण होते हैं। जागने पर, ज्ञान हो जाने पर, समीप पहुँचने पर, ये भेद भाव दूर हो जाते हैं। भक्त तो भगवान् के पार्श्ववर्ती ही ठहरे उन्हें यह भ्रम नहीं होता, भक्ति को ही प्रधान मानते हैं। जो भगवान् वासुदेव के भक्त हैं, वे निर्बल और भयभीत नहीं होते, वे ज्ञान वैराग्य के बल से सदा सम्पन्न रहते हैं। वे

किसी भी योनि में चले जायँ वहीं निर्भय रहते हैं। उन्हें इस संसार में भगवान् को छोड़कर अपनी बुद्धि का कोई अन्य आश्रय नहीं दीखता। यदि शूकर योनि में भी भक्ति प्राप्य है, तो वह श्रेष्ठ है। देवयोनि में यदि वह नहीं है, तो वह निकृष्ट है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! फिर भी श्रेष्ठ योनियों में श्रेष्ठता तो होती ही है।"

शीघ्रता से सूतजी बोले—"हाँ, महाराज! होती क्यों नहीं, किन्तु वह साधन भजन की सुगमता के ही कारण होती है, इन्द्रियों की बनावट के कारण नहीं। मनुष्य योनि से अधिक साधन, भजन, भगवत् चिन्तन तथा परमार्थ साधन हो सकते हैं। इसीलिये मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ कहा है। यदि यह सुदुर्लभ देह, सुलभता से प्राप्त हो जाय और इसे प्राप्त करके भी इस संसार रूप समुद्र को पार करके प्रभु के पादपद्मों के पास न पहुँचे तो मुनियों ने उसे आत्महा—आत्मा का हनन करने वाला—बताया है। भक्त तो भगवत् प्रेम चाहते हैं वह यदि पशु बनने पर भी प्राप्त हो जाय, तो उन्हें पशु बनना सहर्ष स्वीकार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस विषय में मैं आपको एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ। परम पावन काञ्चीपुरी में एक बड़े ही भगवद्भक्त वैष्णव रहते थे। उन्हें सर्वदा यही चट-पटी लगी रहती थी, कि किस प्रकार प्रभु मेरे ऊपर कृपा करें। कैसे मैं भगवान् का अधिक से अधिक स्नेहभाजन बन सकूँ।

एक दिन वे सन्त बैठे थे। उन्होंने देखा. एक श्रीमान् बड़े विभवशाली रथ में बैठकर जा रहे हैं। उसके साथ उसकी धर्मपत्नी भी है एक कुत्ता भी उनकी गोद में बैठा है। वे दोनों पति-पत्नी उस कुत्ते को अत्यधिक प्यार कर रहे हैं। कभी उसे पुचकारते हैं। कभी उसके बदन को थपथपाते हैं। कभी मृदु

करों से उसके मुख को दबाते हैं। कभी उसे सुहराते हैं। कभी उसके बड़े-बड़े बालों में कोमल उँगलियाँ डालकर उसे खुजाते हैं। भगवद्भक्त इस लीला को देखकर मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। मुनियो ! ये हरिभक्त प्रेम के पापी होते हैं। प्रेम में जहाँ भी देखते हैं रीझ जाते हैं। जैसे अपने आहार को देखते ही चित्त उसकी ओर स्वाभाविक दौड़ता है। जैसे किसी को धूम्रपान करने का व्यसन है, उसे धूम्रपान की बड़ी प्रबल इच्छा हो रही है, तो किसी नीच को धूम्रपान करते देखता है तो उनकी इच्छा होती है, इसी से लेकर मैं पान कर लूँ। प्रेमी जहाँ किसी दूसरे को अपने प्रियतम से प्रेम करते देखते हैं वहाँ उनके मन में गुद-गुदी होने लगती है, हाय ! किसी तरह हमारा भी प्रेमी हमें ऐसे प्यार करने लगे तो बेड़ा पार हो जाय।"

वैष्णव सोचने लगे—"देखो, ये सपत्नीक श्रीमान् अपने कुत्ते से कितना स्नेह रखते हैं। यदि मैं भी कुत्ता हो जाऊं तो सम्भव है। श्री लक्ष्मीवरद रमारमण मुझसे भी अपनी प्रिया के सहित प्रसन्न हो जायँ, वे भी मुझे इसी भाँति प्यार करने लगें।"

यह सोचकर वे उस दिन से अपने को कुत्ता ही समझने लगे। कुत्ते की भाँति हाथों को पृथ्वी पर टेककर चलते। वैष्णवों की उच्छिष्ट पत्तलों को कुत्ते की भाँति चाटते। कोई टुकड़ा डाल देता तो कुत्ते की भाँति उसे खाते। नदी में जाकर कुत्ते की भाँति पानी पीते। जहाँ-तहाँ कुत्ते की भाँति मल-मूत्र कर देते। कोई मार देता, तो कुत्ते की भाँति कांउ-कांउ करके भाग जाते। सारांश ये अपने को सब भाँति कुत्ता ही समझते।" भगवान् उनकी निष्ठा से प्रसन्न हुए और उनके ऊपर कृपा की। सो मुनियो ! शरीर तो वही श्रेष्ठ है जिससे भजन हो। भजन न हो और कामदेव के समान सुन्दर मन सब संसारी भोगों से युक्त मनुष्य शरीर को प्राप्त हो जाय तो

वह व्यर्थ है। इसी भाव को समझते हुए शिवजी पार्वती जी से कह रहे हैं—"देवी ! उन भगवान् की महिमा को उनकी अद्भुत लीलाओं को सब नहीं जान सकते। और लोगों की बात तो जाने दो मैं स्वयं भी उनके महत्व को भली-भाँति नहीं जानता। ब्रह्माजी, सनकादि महर्षि, नारद मुनि, मारीच, अत्रि अंगिरा आदि ब्रह्माजी के पुत्र तथा अन्य लोकपाल आदि कोई भी प्रधान-प्रधान देवगण उनके यथार्थ स्वरूप को कहने में समर्थ नहीं फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या ? संसारी लोग तो मूर्खतावश अपने को सर्व समर्थ मानते हैं। इन चित्रकेतु में जो इतनी सहनशीलता है, यह भगवान् की अहैतुकी भक्ति के ही कारण है, इसीलिये तुम किसी प्रकार का विस्मय मत करो। भगवान् के भक्तों के लिये कोई कार्य दुष्कर नहीं। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् शङ्कर के मुख से ये बातें सुनकर पार्वती जी को जो कुछ विस्मय हुआ था, वह दूर हो गया। विष्णु भक्तों के इस महान् माहात्म्य को सुनकर वे गत विस्मया बन गईं।"

वे ही राजा चित्र केतु माता पार्वती के शाप से जब त्वष्टा मुनि ने विश्वरूप के वध से क्रोधित होकर अग्नि में 'इन्द्र का शत्रु बढ़े' इस मन्त्र से दक्षिणाग्नि में हवन किया था, उसी में से ये असुर होकर उत्पन्न हुए थे। उत्पन्न होते ही इन्होंने तीनों लोकों को वृत्र अर्थात् ढक-सा लिया था, इसीलिये ये वृत्रासुर के नाम से विख्यात हुए। असुर योनि में होने पर भी इनका ज्ञान-विज्ञान लुप्त नहीं हुआ। ये उसी प्रकार अनन्य अच्युत उपासक परम भगवद्भक्त हुए। राजन् ! तुमने जो शङ्का की थी, कि असुर होकर भी वृत्रासुर इतना भगवद्भक्त क्यों हुआ ? इसी के उत्तर में मैंने यह परम शिक्षाप्रद राजर्षि चित्रकेतु का पुण्यप्रद उपख्यान

कहा, इसे सुनकर आपका विस्मय दूर हो जायगा। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।

महाराज परीक्षित जी ने परम आश्चर्य के सहित कहा—भगवन्! यह तो बड़ी ही सुन्दर कथा आपने सुनाई। क्यों न हो भगवान् की भक्ति की महिमा ऐसी ही है। जो भगवत् चरित्रों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करता है, उसके पाप सन्ताप सब दूर हो जाते होंगे।"

इस पर हँसकर श्री शुकदेव जी बोले—"अजी, राजन्! भगवान् के चरित्रों को सुनने से संसार बन्धन छूट जाय, यह तो निर्विवाद बात है। मैं तो कहता हूँ विष्णु भक्तों के माहात्म्य रूप इन महात्मा चित्रकेतु के इस पवित्र इतिहास को जो श्रद्धा भक्ति और एकाग्रचित्त होकर सुनते हैं उनके सब संसारी बन्धन छूट जाते हैं। भगवान् के चरित्रों से भक्तों के चरित्र श्रेष्ठ बताये गये हैं क्योंकि उनमें स्थान-स्थान पर भगवान् की भक्त-वत्सलता, करुणा और अहैतुकी की कृपा का वर्णन होता है। भक्तों के चरित्र और हैं क्या भगवत् परायणता ही तो उनका प्रधान चरित्र है। सोते-जागते उठते-बैठते भगवद्भक्ति में ही तो निमग्न रहते हैं। भगवान् के अतिरिक्त उनका संसार में और कोई धन है ही नहीं। जो पुरुष प्रातःकाल उठते ही भगवान् का स्मरण करके इस भक्तिवर्धक इतिहास को कहता सुनता या सुनाता है वह अवश्य ही परमपद का अधिकारी बन जाता है। इसमें आप तनिक भी—रत्ती भर की अणुमात्र की सन्देह न करें अच्छा! समझे राजन्! इसे भूलियेगा नहीं भला। यह तो मैंने त्वष्टा के वंश का वर्णन करते हुए विश्वरूपजी के जन्म के सम्बन्ध में प्रसङ्गवश अत्यन्त संक्षेप में वृत्रासुर की कथा सुनाई। अब आगे आपकी क्या सुनने की इच्छा है?

छप्पय

जे पवित्र यह चरित वृत्र को सुनैं सुनावें।
बड़भागी ते मनुज परमपद निश्चय पावें॥
कहें उत्तरा तनय अदिति के शेष वंश कूँ।
प्रभो सुनावें अवसि कथा के बचे अंश कूँ॥
शुक बोले—सविता वरुण, मित्र विधाता उरुक्रम।
धाता भगके वंश कूँ, कहूँ, सुनें तें भजे भ्रम॥

अदिति के शेष वंश का वर्णन

[४३७]

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् ।
अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥*

(श्रीभा० ६ स्क० १८ अ० १ श्लो०)

छप्पय

सविता पत्नी पृश्नि जने तिनि सब यज्ञादिक ।
भगकी पत्नी सिद्धि जने सुत तीनि सुता इक ॥
धाता पत्नी कुहू सिनीवली राका अरु ।
अनुमति चौथी पत्नि भये सुत सबके सुन्दरु ॥
सायं प्रातः दर्श अरु, पूर्ण मास सुत अति विमल ।
क्रिया विधाता की वहू, जने पुरीष्यादिक अनल ॥

संसार में जितने भी नाम रूप वाले पदार्थ हैं, सबके पृथक्-पृथक् अधिष्ठातृदेव हैं, घर, ग्राम, नगर, दुर्ग, वृक्ष, लता, गुल्म तथा सभी योनि के जीवों के अधिष्ठातृदेव होते हैं। इसे आधिदैविक सृष्टि कहते हैं इस प्रकार संसारमें जड़ कुछ नहीं है आधिदैव और अध्यात्मिक को न मानना केवल देखने वाले पंचभूतों को ही सब कुछ मानकर इन्हीं के द्वारा सांसरिक वासनाओं की

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अदिति के बारह आदित्यों में से पञ्चम सविता थे, इनकी पत्नी का नाम पृश्नि था। उससे उन्होंने सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पञ्च-महायज्ञ ये सन्तानें पैदा कीं।"

पूर्ति करते रहना इसी का नाम जड़ता है। हमें इन चर्मचक्षुओं से जो दीखता है, वह वस्तुओं का आधिभौतिक रूप है। क्योंकि हम चक्षु गोलकों द्वारा ही सबको देखते हैं और चक्षु गोलक आधिभातिक ही हैं। ये चक्षु गोलक होने पर भी इनमें सूर्यशक्ति प्रवेश न करे, तथा हमारे नेत्रों को तथा देखने वाली वस्तुओं को प्रकाश प्रदान न करे तो हम वस्तुओं को नेम गोलकों के रहने पर भी कुछ नहीं देख सकते। इसोलिये घोर अन्धकार में हमें कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।

प्रकाश और गोलक का जो अधिष्ठान चक्षु नामक इन्द्रिय है, जो प्रकाश को ग्रहण करके वस्तुओं को प्रकाशित करती है यही उसका अध्यात्म रूप है। पुराणों में जो सृष्टि का वर्णन है वह अध्यात्म और अधिदैविक ही है। आधिभूत का वर्णन प्रायः नहीं के ही बराबर है। इसोलिये पुराणों में भिनगों की भाँति जन्मने मरने वाले जीवों का वर्णन नहीं मिलता। उनका वर्णन करने से लाभ क्या ? जो नित्य हैं। कम से कम कल्पजीवी हैं, या जो मुक्त हैं, मुमुक्षु हैं उन्हीं का प्रायः वर्णन है। वद्ध जीवों का कहीं उदाहरण के रूप में आ गया, तो दूसरी बात है किन्तु उनका वर्णन करना पुराणों को इष्ट नहीं। वद्ध तो वद्ध हैं ही।

जब श्रीशुकदेवजी ने बृत्रासुर के इतिहास को समाप्त किया तब राजा को मूल कथा का स्मरण हो आया। उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा—"ब्रह्मन् ! आप मुझे देवता, ऋषि तथा पितर आदि सबके वंशों को सुना रहे थे। पहिले आपने स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद इन दोनों पुत्रों के वंश का वर्णन किया। महाराज भियव्रत के पुत्र अग्निन्ध्र हुए उवके नाभि और नाभि के यहाँ भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। ऋषभदेव के ही भरतजी हुये जो जड़भरत कहाये। इन सबके आपने मुझसे चरित्र कहे उत्तानपाद के वंश का वर्णन करते हुए आपने महाराज प्राचीन-

वर्हि के वंश तक का वर्णन किया था। फिर आपने बताया था कि महाराज प्राचीनवर्हि के दस प्रचेता हुए। उन्होंने वार्ची नामक कन्या से विवाह किया। जिनके ब्रह्माजी के पुत्र दक्ष शिवजी के शाप से पुनः पुत्र रूप में इस मन्वन्तर में हुए। उस समय सब प्रजा क्षीण हो गई थी।। इसलिये इन प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने ही सम्पूर्ण सृष्टि को फिर से बढ़ाया। पहिले उन्होंने हर्यश्व और शबलाश्व नामक ग्यारह हजार पुत्र उत्पन्न किये, नारदजी के उपदेश से सबके सब साधु बन गये। तब ब्रह्माजी की आज्ञा से उन्होंने साठ कन्यायें उत्पन्न कीं। जिनमें से सत्ताइस चन्द्रमा को, दस धर्म को, दो-दो भूत,अंगिरा और कृशाश्व को, चार तार्क्ष्य को इस प्रकार सैंतालीस तो इन सबको दी और तेरह भगवान् कश्यप को दीं। पहिले आपने सैंतालीस कन्याओं के वंश को संक्षेप में बताया था। तब कश्यप के तेरह पत्नियों के वंश का वर्णन करने लगे। उनमें से तिमि, शरमा, सुरभि, ताम्रा, क्रोधवशा, मुनि, इला, सुरसा, अरिष्टा, काष्ठा और दनु इन ग्यारह की सन्तानों का वर्णन आपने संक्षेप में किया। फिर आप कश्यप की प्यारी पत्नी अदिति के वंश का वर्णन कर रहे थे। आपने इसी प्रसङ्ग में बताया था, कि अदिति के बारह पुत्र हुए, जो बारह आदित्य कहलाये। जिनके नाम विवस्वान् , अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, त्रिधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम थे। उनमें से आपने विवस्वान, अर्यमा, पूषा के वंश के सम्बन्ध में संक्षेप में वर्णन करते हुए चौथे आदित्य त्वष्टा के वंश का वर्णन किया था। आपने बताया था कि त्वष्टा मुनि ने असुरों की छोटी बहिन रचना के साथ विवाह किया था उनके पुत्र विश्वरूपजी हुए। उसी कथा के प्रसंग में विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की कथा भी छिड़ गई यह अवान्तर कथा थी। अब आप मुझे, मूल कथा को ही सुनावें विवस्वान्, अर्यमा, पूषा और त्वष्टा के अतिरिक्त

सविता आदि आठ आदित्य और शेष हैं। उनके वंश का वर्णन अब आप और करें। अपनी मूल कथा पर आ जायँ।

राजा परीक्षित् की ऐसी बातें सुनकर श्रीशुकदेवजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! तुम धन्य हो। कथा सुनने के सच्चे अधिकारी तुम ही हो। तुम कथा के मूल स्रोत को हाथ से नहीं जाने देते। जड़ को कस कर पकड़े रहते हो शाखा प्रशाखाओं के विस्तार से मूल को भूलते नहीं। मैं तो वृत्रासुर की कथा कहते-कहते भूल गया था, कि आगे क्या कहना है। अब आपने अच्छी याद दिला दी। राजन्! इन बारह आदित्यों से ही तो समस्त दैविक सृष्टि उत्पन्न हुई है। इनके वंश का मैं विस्तार से वर्णन करने लगूँ तो कभी समाप्त ही न होगा। अतः मैं कथा प्रसङ्ग को व्यवस्था और क्रम में रखने के निमित्त इनके वंश का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन करता हूँ। उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

हाँ, तो पाँचवें अदित्य सविता हुए। उनकी स्त्री का नाम था पृश्नि। इनके तीन लड़की और पाँच लड़के हुए। यह जो सावित्री है जिसे गायत्री भी कहते हैं यह इनकी ही लड़की है। दूसरी व्याहृति है जो गायत्री के साथ लगी रहती है। तीसरी विद्या है, जिससे समस्त कर्मकांड आदि हैं। वेदों में पाँच प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं। एक तो अग्निहोत्र जिसे विवाह हो जाने पर समस्त वर्णाश्रमी द्विजों को करने का विधान है। एक पशु यज्ञ होता है, जिसमें पशु वलि दी जाती है। एक सोमयज्ञ होता है जिसमें सोमलता से सोम निकालकर देवताओं को उसका भाग दिया जाता है। एक चातुर्मास्य यज्ञ होता है जो वर्षा के चार महीनों में किया जाता है। एक पंचमहायज्ञ है जो नित्यप्रति प्रत्येक द्विजाति गृहस्थ को करना चाहिये। इन पाँचों के अधिष्ठात्री देवता सविता से ही उत्पन्न हुए। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में सविता

के वंश का वर्णन किया अब छठे आदित्य भग की सन्तानों को सुनिये।

भग देवता की स्त्री का नाम था सिद्धि। उनसे इनके महिमा, विभु और प्रभु ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए और एक कन्या भी उत्पन्न हुई जिसका नाम आशिष है। बड़े लोग जो छोटों को आशिष या आशीर्वाद देते हैं। यह इन्हीं भग की कन्या है। दक्ष यज्ञ में कुपित हुए वीरभद्र ने इनके नेत्र फोड़ दिये थे, इसलिये ये मित्र देवता के नेत्रों से देखते हैं। तब से सबको ये मित्रभाव से निहारते हैं। इससे यह भाव प्रकट हुआ कि जो किसी को अमित्रभाव से देखता है, उसके नेत्र देखने योग्य नहीं रहते।

अब सातावें आदित्य धाता की सन्तानों को भी सुनिये। इनके चार पत्नियाँ थीं, जिनके नाम कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति ये हैं। ये अमावस्या की रात्रि के भेद हैं। इन चारों के एक-एक पुत्र हुए। कुहू के पुत्र का नाम सायं है। सूर्यास्त के समय जो हवन पूजन किया जाता है वह सायं हवन कहलाता है। इसके अधिष्ठातृदेव ये धाता पुत्र सायं ही हैं सिनीवाली का पुत्र हुआ दर्श। अमावस्या को जो पितरों के उद्देश्य से यज्ञ किया जाता है उसे दर्शयाग कहते हैं। उसके अधिष्ठातृदेव ये धाता दूसरे पुत्र हैं। राका नामक पत्नी से प्रातः नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सुर्योदय के आगे पीछे का जो समय है जिसमें प्रातः कालीन अग्निहोत्र आदि होते हैं उसके अधिष्ठातृदेव ये ही हैं। धाता को चौथी पत्नी अनुमति का पुत्र पूर्णमास हुआ। मास के अन्त में जो पूर्णिमा के दिन देवताओं के उद्देश्य से याग किया जाता है उसके अधिष्ठातृदेव ये धाता के चौथे पुत्र हैं। अब आठवें विधाता की सन्तानों को भी सुनिये।

धाता के छोटे भाई विधाता की स्त्री का नाम क्रिया था। उस से पुरीष्य संज्ञक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। पूर्वजन्म में ये पाँचों

पवित्र अग्नि थे। तपस्वी लोग अब भी पंचाग्नि तप करते हैं। इन पाँचों अग्नियों के अधिष्ठातृ देव ये ही हैं।

नवमें आदित्य हुए वरुण। इनको पत्नी का नाम था चर्षणी जो भृगु पहिले ब्रह्माजी के पुत्र थे वे किसी कारण विशेष से फिर उत्पन्न हुए, अतः वे इनके हो यहाँ पुत्र रूप में प्रकटे। एक पुत्र और भी उत्पन्न हुए जो बड़े तपस्वी हुए। उन्होंने इतनी घोर तस्पया को, कि तपस्या करते-करते उनके शरीर पर दीमकों ने अपना घर—वल्मोक बना ली। उस वल्मीक को हटाकर वे फिर से प्रकट हुए। वल्मीकि से उत्पन्न होने के कारण वे ही वाल्मीक ऋषि कहलाये। ये दो तो इनके शुद्ध पुत्र थे। दो मिले-जुले और पुत्र हुए। बात यह थी कि ये अपने छोटे भाई मित्र के साथ एक दिन आ रहे थे। दोनों का ही स्वर्गीय ललना ललाम उर्वशी अप्सरा के रूप को देखकर शुक्र स्खलित हो गया। दोनों में अमोघ वीर्य थे। वह दिव्य वीर्य व्यर्थ न जाय इसलिये उन दोनों ने उसे एक घट में रख दिया। उसी समय वसिष्ठजी का राजा निमि से यज्ञ के सम्बन्ध में वाद-विवाद हो गया। उसमें दोनों ओर से शापा-शापी हो गई। वसिष्ठजी ने कहा—"तेरी देह नष्ट हो जाय।" राजर्षि निमि भी कुछ कम नहीं थे, उन्होंने कहा—"आपकी भी देह नष्ट हो जाय।" अब वसिष्ठजी तो कल्पजीवी ठहरे मर तो सकते नहीं। बिना शरीर के पृथ्वी पर कैसे रहें। देह रूप आश्रय तो चाहिये। इसलिये जीव रूप से वे उसी घड़े के वीर्य में प्रविष्ट हुए। ऐसे ही एक दिव्य जीव उसमें और आ गये। उनका नाम हुआ अगस्त्य। इस प्रकार वसिष्ठ और अगस्त्य ये दोनों मित्रावरुण के पुत्र कहलाये। इसलिये ये दोनों मिले जुले साझे के सम्मिलिति अयोनिज पुत्र हुए। घड़े से उत्पन्न होने से दोनों कुम्भज भी कहलाते हैं।

दशवें आदित्य मित्र थे इनकी भार्या का नाम रेवती था।

उससे इनके उत्सर्ग, अरिष्ट और पिप्पल नामक तीन पुत्र हुए। अब ग्यारहवें आदित्य की सन्तानों को सुनिये।

ग्यारहवें आदित्य शक्र हुए जो देवताओं के राजा होने से इन्द्र भी कहलाये। इन्होंने अपना विवाह असुर वंश में किया। इसलिये कि पुलोमा नामक असुर की शची नाम वाली कन्या बड़ी ही सुन्दरी थी। तीनों लोक में उसके समान सुन्दरी कोई कन्या उस समय नहीं थी। इसकी एक बहिन और थी उसका नाम बाप ने अपने ही नाम पर पुलोमा ही रखा था जिसका विवाह भृगु के साथ हुआ। जिनसे च्यवन ऋषि उत्पन्न हुए। हाँ तो शची का विवाह इन्द्र के साथ हो गया। उससे इनके जयन्त, ऋषभ और मीढष नाम तीन पुत्र उत्पन्न हुए। एक जयन्ती नाम वाली कन्या भी उत्पन्न हुई जिसका जिसका विवाह ऋषभ देवजी के साथ हुआ जिनके भरतजो आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हमने तो सुना है। देवताओं के सन्तानें ही नहीं होतीं। आप कह रहे हैं इन्द्र के तीन लड़के और एक लड़की हुई।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! पहिले तो सबके सन्तानें हुआ करती थीं। जब से पार्वतीजी ने इन देवताओं को शाप दिया तब से इनके सन्तान होनी बन्द हो गईं। नहीं तो कुवेर के नलकूबर मणिग्रीव ये दो पुत्र थे। वरुण के पुष्कल नामक पुत्र थे। यमराज की कन्या अंग की पत्नी सुनीथा थी। यह तो शाप से सबके सब आधे नपुंसक हो गये। देवता शब्द पुलिङ्ग भी है और स्त्री लिङ्ग भी है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग ! सूतजी ! पार्वतीजी ने इन देवताओं को शाप क्यों दे दिया ?"

सूतजी यह सुनकर कुछ अन्यमनस्क से हो गये और बोले—"भगवन् ! क्या करोगे इन सब बातों को सुनकर। ये सब झगड़े

टंटे की बातें हैं। यों ही समझ लीजिये, इन देवताओं का प्रारब्ध ही ऐसा था। अच्छा ही किया इन सबको भगवती पार्वती ने निस्सन्तान बना दिया। नहीं ये लोग बड़े कामी होते हैं। नित्य ही सन्तानें उत्पन्न करते और इन ऐश्वर्य में मदोन्मत्त हुए कामियों की सन्तानें रात्रि-दिन अनर्थ ही करती रहतीं। देखिये ! इन्द्र पुत्र जयन्त ने ही कैसी अशिष्टता की, माता जानकी के ऊपर कुदृष्टि डाली। नलकूबर मणिग्रीव की अशिष्टता से दुखी होकर ही नारदजी ने उन्हें वृक्ष बन जाने का शाप दिया। इसलिये इन ऐश्वर्यशाली धनिकों का निस्सन्तान होना ही ठीक है। हों भी तो एक दो सन्तान बहुत हैं।

पार्वतीजी ने शाप क्यों दिया, यह कथा है तो बहुत लम्बी किन्तु मैं बहुत संक्षेप में इसे सुनाता हूँ। पार्वतीजी को सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इसी भावना से वे गर्भधारण कर रहीं थीं। स्वार्थी देवताओं ने अग्नि को भेजकर बीच ही में गड़-बड़-सड़बड़ कर दी। भगवती की इच्छा में विधात हुआ इसी से क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दे दिया—"जाओ ! तुमने मेरी सन्तान की इच्छा का विघात किया है, तुम्हारे भी किसी के सन्तान न हो बस, तब से ये सबके सब देवता निपूते बन गये। जो पहिले हो गये थे, वे हो गये इनके पीछे गोविन्दाय नमो नमः हो गया।

अब सबसे अन्तिम बारहवें आदित्य हुए विष्णु जो इन्द्र से छोटे होने के कारण उपेन्द्र भी कहलाते हैं। स्वर्ग सिंहासन के ये भी उप सभापति हैं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! विष्णु तो सबसे बड़े हैं आप इन्हें इन्द्र से छोटा क्यों बता रहे हैं, ये तो इन्द्र के भी शास्ता हैं ? फिर आप इन्हें स्वर्ग का उपसभापति उपेन्द्र क्यों कहते हैं ?

इस पर हँसकर सूतजी बोले—"महाराज, इन विष्णु की

माया अपरम्पार है। ये छोटे बनने पर भी बड़े खोटे होते हैं। छोटे बनकर इन्होंने बड़ी तिकड़म भिड़ाई। विचारे, बलिको ऐसा चक्कर में फँसाया कि उस का राज-पाट सब छीन-छान कर पाताल में भेज दिया। बाँधना तो चाहते थे ये उसे ही किन्तु भोलेपन के कारण स्वयं बँध गये। बालक ही जो ठहरे। सेवक बनाने गये, स्वयं सेवक बन गये। अब हाथ में छड़ी लिये हुए बलि के द्वार पर पहरा देते रहते हैं। महाराज ! यह बड़ी भारी कहानी है। भगवान् ने अदिति देवी को प्रसन्न करने के लिए उनके गर्भ से अवतार लिया था। इन्द्र के छोटे भाई बनकर उनके दुःख को दूर किया। असुरों को छलकर कपट से उनका राज्य छीनकर देवताओं को दे दिया। इन सब बातों को मैं वामन चरित्र में आगे कुछ विस्तार के साथ बताऊँगा। पहिले आप मुझे भगवान् कश्यप की बारह पत्नियों की सन्तानों का संक्षेप में वर्णन कर लेने दो।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"अच्छी बात है सूतजी ! १२ पत्नियों के वंश का वर्णन तो आप कर ही चुके अब एक दिति ही रह गई, सो उसके वंश का वर्णन और कीजिये।"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! अब मैं दिति के वंश का वर्णन करता हूँ, उस दैत्य वंश को आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय—वरुण चर्षणी माँहि भये भृगु मुनि पुनि तिन तें।
सुत वसिष्ठ बाल्मीक अगस्तहु जनमें इत तें॥
मित्र रेवती नारि माँहिँ सुत तीनि भये वर।
इन्द्र शची तें ऋषभ जने मीढुस जयन्त सुर॥
वामन पत्नी कीर्तिने, बृहच्छ्लोक शुभ सुत जने।
श्री उपेन्द्र बलि जज्ञ में, छोटे से बौना बने॥

———

दिति वंश का वर्णन

[४२८]

अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्तयामि ते ।
यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १० श्लोक)

छप्पय

हिरनकशिपु हिरनाक्ष भये दिति सुत खल भारी ।
हिरनकशिपु की बहू कयाधू अति पति प्यारी ॥
अनुह्लाद संह्लाद ह्लाद प्रह्लाद जने सुत ।
सुता सिंहिका भई जासु सुत भयो विप्रचित ॥
जन्यो पंचजन असुर कूँ, कृति ते सुत संह्लाद ने ।
इल्वल वातापी जने, धमनि पत्नि तैं ह्लाद ने ॥

संसार में जो भी बल, पौरुष, पराक्रम, श्री, तेज, ऐश्वर्य है सब भगवद् दत्त ही है। जहाँ भी ये सब दिखाई दें उसे भगवान् की विभूति समझना चाहिये। भगवान् की सात्विकी विभूति आदि देवता हैं, राजसी विभूति ब्रह्मा, मनु, प्रजापति आदि हैं और तामसी विभूति रुद्र, असुर, भूत, प्रेत, पिशाच दैत्य, दानव आदि हैं। जब भगवान् को सतोगुण की वृद्धि

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अब मैं महर्षि कश्यप की पत्नी दिति के उदर से उत्पन्न होने वाले दैत्यों के वंश का वर्णन तुमसे करता हूँ जिस वंश में परम भागवत श्रीमान् प्रह्लाद जी तथा महादानी बलिजी उत्पन्न हुए हैं।"

करनी होती है, तो देवताओं के बल को बढ़ा देते हैं और तमोगुण की वृद्धि करने की इच्छा होती है, तो असुर राक्षसों के बल को बढ़ा देते हैं। वे देवताओं को मारते हैं, पीटते हैं स्वर्ग से निकाल देते हैं, इन्द्रासन छीन लेते हैं। भगवान् बैठे-बैठे हँसते रहते हैं।"

असुरों की वृद्धि वे क्यों करते हैं जी ! अब इस क्यों का क्या उत्तर ? लड्डुओं के साथ मिरच क्यों खाते हैं। खीर के साथ चटपटी चटनी क्यों चाटते हैं ? मन प्रसन्न करने के लिये। शतरञ्ज में कभी-कभी सैनिक राजा को हरा देता है। काठ का सैनिक काठ के राजा को क्या हरावेगा ? खेलने वाले का विनोद है। इसी प्रकार त्रिगुणातीत भगवान् की दृष्टि में न कोई अधम है न कोई उत्तम। सभी उनके खिलौने हैं। लीला के लिये, विनोद के लिये जय पराजय कराते रहते हैं। जैसे नाटकों में खेल होता हैं, फिर कुछ नहीं। अतः सृष्टि के लिये जैसे ही सुर आवश्यक हैं वैसे ही असुर आवश्यक हैं। सुरों से पहिले मधुकैटभ असुर ही उत्पन्न हुए। इसलिये ये देवताओं के बड़े भाई कहे जाते हैं। जैसा ही फल सुरों के वंश श्रवण का है वैसे ही असुरों के वंश श्रवण करने का भी फल है। पिता दोनों के एक ही हैं। केवल माता के भेद से उनमें पृथकत्व हो गया। अदिति के आदित्य हुए और दिति के दैत्य कहलाये।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! मैंने तुमसे भगवान् कश्यप की १२ पत्नियों के वंश का वर्णन कर दिया, अब उनकी तेरहवीं पत्नी दिति के वंश को भी सुन लीजिये।"

यह बात हम सूकरावतार के प्रसङ्ग में हिरण्याक्ष वध की कथा में बता ही चुके हैं, कि अपनी अन्य सौतों को संतानवती देखकर दिति को डाह हुआ। वह संध्या समय अग्नि होम करते समय पुत्र कामना से सकामा होकर अपने पति भगवान् कश्यप

के समीप गई और आग्रह पूर्वक गर्भाधान की प्रार्थना करने लगी। मुनि नें बहुत समझाया, किन्तु भवितव्यता ऐसी ही थी, उसके सिर पर कामभूत सवार था, पति की एक बात भी न सुनी विवश होकर मुनि ने उस दारुण बेला में गर्भाधान संस्कार किया और कह दिया इससे तेरे दो महाक्रूर आसुरी भाव वाले बड़े पराक्रमी पुत्र होंगे। सर्वज्ञ मुनि का वचन अन्यथा कैसे होता? उस दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष ये दो आदि दैत्य उत्पन्न हुए। ये दोनों और कोई नहीं थे भगवान् विष्णु के प्रिय पार्षद जय विजय ही सनकादिकों के शाप से असुर होकर उत्पन्न हुए थे। तभी तो ये भगवान् से टक्कर ले सके, देवताओं के दाँत खट्टे कर सके। इनकी माता ने अपने पति भगवान् कश्यप से वरदान माँग लिया था, कि मेरे पुत्रों की मृत्यु भगवान् से ही हो इसीलिये भगवान् ने दो अवतार लेकर इन दोनों भाइयों को मारा। सूकरावतार धारण करके तो हिरण्याक्ष को मारा और श्रीनृसिंहावतार लेकर हिरण्यकशिपु को पछाड़ा। सूकराव-तार की कथा पीछे सुना ही चुका हूँ। नृसिंहावतार की कथा आगे सुनाऊँगा। यहाँ तो इन हिरण्यकशिपु दैत्य के वंश को सुन लीजिये।

हाँ, तो राजन्! हिरण्यकशिपु ने अपना विवाह जम्भ नामक दानव की पुत्री कयाधू के साथ किया। उससे हिरण्यकशिपु के चार पुत्र हुए, जिनके नाम संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और भक्ताग्र गण्य श्री प्रह्लाद जी हैं। एक सिंहिका नाम की कन्या भी हुई। जिसका विप्रचिति नामक दानव के साथ विवाह हुआ। उसी सिंहिका का पुत्र राहु हुआ जिसका सिर भगवान् ने मोहनी रूप से, समुद्र मन्थन के समय काटा था। इन चारों के अतिरिक्त स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, तंग, पतंग, क्षुद्रभृद् और घृणी ये ६ पुत्र और हुए जो प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में मरीचि प्रजापति की

उर्णा नाम वाली स्त्री के पुत्र थे और ब्रह्माजी के शाप से असुर हो गये थे। मुख्य तो चार ही थे। अब उन चारों का वंश सुनो।

हिरण्यकशिपु का सबके बड़ा पुत्र था संह्लाद। उसकी स्त्री का नाम था कृति। उससे उसके पञ्चजन्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह असुर समुद्र के जल में शङ्ख रूप में रहता था। द्वापर के अन्त में भगवान् ने इसे मारकर उस शङ्ख को ग्रहण किया, इसीलिये भगवान् के शङ्ख का नाम पाञ्च-जन्य शङ्ख है। वह असुर धन्य है, जिसकी अस्थि के शङ्ख का स्पर्श भगवान् श्यामसुन्दर के अत्यन्त कोमल अधरों से होता है, जिनके लिये साधिकायें असंख्य वर्ष तपस्या करती रहती हैं।

हिरण्यकशिपु के दूसरे पुत्र का नाम ह्लाद था। उसकी स्त्री का नाम था धमनी। उस धमनी के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए उनमें से एक का नाम तो इल्वल (आतापी) और दूसरे का नाम था वातापी, इनमें से वातापी को महामुनि अगस्त्य जी खाकर पचा गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इतने बड़े बली असुर को भगवान् अगस्त्य ब्राह्मण होकर खा गये और कैसे पचा गये? इस कथा को आप उचित समझें तो हमें सुनावें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग! यह बड़ी लम्बी कथा है, किन्तु मैं आपको अत्यन्त संक्षेप में इसे सुनाता हूँ। आप सब सावधानी के साथ कथा को श्रवण करें।"

बात यह थी कि ये दोनों असुर वातापी और इल्वल बड़े ही शूर वीर पराक्रमी धनी और ऐश्वर्यशाली थे। उन दिनों ये पृथ्वी पर ही रहते थे। पृथ्वी के राजाओं में वे सबसे अधिक धनी समझे जाते थे। परन्तु इन लोगों को एक बड़ा बुरा व्यसन

पड़ गया था। मांस भोजी दैत्य तो थे ही। इन्हें ऋषि मुनियों के मांस खाने की लत पड़ गई थी। श्राद्ध के अन्न को खा-खाकर मोटे हुए ब्राह्मणों की मांस इन्हें बहुत प्रिय लगता था। जो क्षीण तेज और अल्पवीर्य मुनि थे, ऐसे बहुत से मुनियों को इन लोगों ने खा डाला। इन्होंने एक युक्ति निकाल रखी थी। इच्छानुसार रूप बनाने की तो इनमें शक्ति थी ही। इसलिये वातापी बड़ा भारी बकरा बन जाता था। इसका भाई इल्वल ब्राह्मण का वेष बनाकर मुनियों के पास जाता और हाथ जोड़कर कहता—"मुनियो! मेरे यहाँ श्राद्ध है, आप भोजन करने मेरे यहाँ पधारें। मैं मांस भी खा लेता हूँ अतः श्राद्ध में मांस भी भोजन कराऊँगा। वे ब्राह्मण स्वीकार कर लेते। तब यह मेष बने हुए उस मायावी वातापी के मांस को पकाकर सबको परोसता। श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण उसे खा जाते। तब इल्वल पुकारता—"भैया! वातापी निकल तो आओ बाहर।"

इतना सुनते ही वह सबके पेटों को फाड़-फाड़कर निकल आता और दोनों मिलकर बड़े प्रेम से उन ब्राह्मणों के मांस को खा जाते। जो ब्राह्मण कहते कि हम तो फलाहारी हैं मांस छूते भी नहीं, उनके लिये कटहल, पेठा, कुम्हड़ा आदि फल बन जाता जब वे खा लेते तो पेट में से फाड़कर वे बड़े-बड़े फल निकल पड़ते। तब दोनों उन्हें खा जाते। ऐसे छिपकर वे श्राद्ध करते कि किसी को पता न चले, बहुत दिनों तक वे इसी प्रकार ब्राह्मणों को मार-मारकर छल से खाने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पाप बहुत दिन छिपा नहीं रहता। मुनियों को यह बात मालूम पड़ गई। वे बड़े घबड़ाये कि इस प्रकार तो ये हम सबका ही उलटा श्राद्ध कर देंगे। ऋषि मंडली में हलचल मच गयी। सब ने मिलकर एक सभा की, उसमें निश्चय हुआ कि एक शिष्ट मंडल महर्षि अगस्त्य जी के

पास भेजा जाय। वे ही हम सब में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। वे एक चुल्लू में समस्त सागर के जल को पी गये थे और फिर लघुशंका के द्वार से उसे निकाल दिया, उसी दिन से सागर का जल खारा हो गया। वे चाहें तो इन असुरों को भी दंड दे सकते हैं। साधारण मुनि के वश में ये असुर नहीं आने के।"

जब सर्व सम्मति से निश्चय हो गया, तो एक शिष्ट मंडल मिलकर भगवान् अगस्त्य जी के समीप पहुँचा। दोनों ओर से नमस्कार प्रणाम, शिष्टाचार कुशल प्रश्न हो जाने के अनन्तर भगवान् अगस्त्यजी ने पूछा—"मुनियो! आज आप सबने किस कारण मेरे ऊपर कृपा की? आप सब इतने उदास और चिन्तित क्यों हो रहे हैं?

उन ऋषियों में से जो एक बूढ़े से थे वे हाथ जोड़कर बोले—"क्या बतावें भगवन्! हम लोग बड़े दुखी हैं, ये जो हिरण्यकशिपु दैत्य के नाती हैं आतापी और वातापी इन दोनों ने न जाने कितने ब्राह्मणों को खा डाला है। वातापी, बकरा बनकर ब्राह्मणों के पेट में चला जाता है, फिर आतापी के पुकारने पर सबका पेट फाड़कर निकल आता है। दोनों उन ब्राह्मणों को खा जाते हैं। इस प्रकार न जाने कितने ब्राह्मणों को ये दोनों भाई खा गये।"

यह सुनकर उन्हें धैर्य देते हुए अगस्त्य मुनि बोले—"मुनियो! एक दिन मेरा भी ;किसी प्रकार निमन्त्रण कराओ तो मैं इनकी सब चौकड़ी भुला दूँ।"

ऋषियों ने कहा—"अच्छा, महाराज! कल ही सही भगवन्। आप हम सबके शिरोमुकुट हैं आपका कुछ अनिष्ट हुआ, तो हमारा तो समाज ही नष्ट हो जायगा।"

इस पर हँसकर भगवान् अगस्त्य बोले—"मुनियो! आप

डरें नहीं। वे अधम असुर मेरा वाल बाँका नहीं कर सकते। मेरे चक्कर में फँस जायँ तो वे बच नहीं सकते।"

ऋषियों ने कहा—"अच्छी बात है महाराज! आप ध्यान रखें। वह ब्राह्मण का रूप बनाकर आवेगा।"

किसी प्रकार ऋषियों ने उनसे कहला दिया कि एक दिन महर्षि अगस्त्यजी का निमन्त्रण करें। उनकी भी दृष्टि ऋषि के दर्शनीय शरीर पर लगी थी, अतः दूसरे ही दिन सुन्दर-सा बहुमूल्य पीताम्बर ओढ़कर तिलक छापे लगाकर मुनि के समीप पहुँचा। दूर से ही साष्टांग दण्डवत् झुकाई। मुनि तो समझ गये इस बगुला भगत की विलैया दण्डौत है। फिर भी कुछ बोले नहीं। गम्भीर बने बैठे रहे, उसने आकर हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! कल मेरे यहाँ श्राद्ध है आप सब शिष्यों सहित मेरे यहाँ पधारें।"

मुनि ने गम्भीर होकर कहा—"भैया! हम तो श्राद्ध का अन्न खाते नहीं। श्राद्धान्न बड़ी कठिनता से पचता है। यदि उसके लिये जप तप न करें, तो ब्राह्मण का नाश करता है। तो भी आप इतनी दूर से आये हैं, तो अच्छी बात है हम आ जयेंगे।"

यह सुनकर आतापी बड़ा प्रसन्न हुआ और मन में आनन्दित होता हुआ घर चला गया। दूसरे दिन नियत समय पर वह मुनि के पास आया। मुनि शिष्यों सहित उसके यहाँ पधारे। उसने पहिले सब की पूजा की और फिर पत्तल परोसने लगा।

मुनि ने कहा—"मेरे ये शिष्य तभी भोजन करेंगे, जब पहिले मैं भोजन कर लूँ। पहिले मेरा पेट भर दो तब देखा जायगा।"

इस पर आतापी ने कहा—"महाराज! मैं तो मांस से श्राद्ध करता हूँ।"

मुनि ने कहा—"अच्छी बात है, जैसा तुम्हारा सदाचार हो। लाओ परसो।"

अब तो वह परसता जाय और मुनि खाते जायँ। पूरे वातापी के मांस को खा गये। तब ऋषि ने बड़े जोर से एक डकार ली और इतने जोर से अपान वायु छोड़ी, कि सब शिष्य हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। इसी समय आतापी ने पुकारा—"भैया! वातापी निकल तो आ, मुनि का पेट फाड़कर।" किन्तु वातापी अब कहाँ। उसने फिर तीन चार बार पुकारा। तब अपानवायु छोड़ते-छोड़ते हँसते हुए मुनि बोले—"बच्चाजी! अब गोविन्द के गुन गाओ। अब वातापी की आशा मत रखो। उसे तो मैं खाकर पचा भी गया।"

इतना सुनते ही आतापी मुनि के ऊपर झपटा। तब मुनि ने एक बार हुङ्कार मारी। इसी में वह अचेतन होकर गिर पड़ा। मुनि अपने शिष्यों सहित चले गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अगस्त्य के पेट में सदा बड़वाग्नि प्रज्वलित रहती है। वे जो भी कुछ खायँ तत्क्षण भस्म हो जाता है। इसलिये जिन्हें अजीर्ण हो भोजन पचता न हो भूख न लगती हो। वे भोजन करके तीन बार पेट पर हाथ फेरे और इस मन्त्र को तीन बार पढ़ें तो वे जो भी कुछ खायें वह तत्क्षण पच जायगा।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उस मन्त्र को हमें अवश्य बता दीजिये। कभी-कभी कथा में अधिक बैठने से उदर में भारीपन हमारे भी हो जाता है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"अजी महाराज! आप तो विश्व को पचाने वाले हैं। आपके भारीपन क्या होगा। फिर भी मन्त्र तो मैं बताये ही देता हूँ। औरों के काम आवेगा। वह यह है—

वातापी भक्षितो येन आतापी च निपातितः।
समुंद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्या प्रसादतु॥

इस मन्त्र को पढ़ो फिर खीर, हलुआ, मालपूआ जो चाहो उड़ाओ, सब स्वाहा।

इस प्रकार मुनियो ! मैंने हिरण्यकशिपु के दो पुत्रों के वंश का वर्णन कर दिया अब अन्य पुत्रों के भी वंशों को सुनिये।"

छप्पय

अनुह्लाद की नारि भई सूर्म्या सुकुमारी।
तातें द्वै सुत भये बली सुररिपु अति भारी॥
प्रथम वाष्कल भयो द्वितिय महिषासुर मानी।
चढ़्यो स्वर्ग पर बली भगे सुर तजि रजधानी॥
स्वर्ग छोड़ि सुर भगि गये, महिषासुर सुरपति भये।
दुखित पराजित सुरनि मिलि, वृत्त जाइ विधि सन कह्यो॥

—:—

महिषासुर की कथा

[४३९]

अनुह्लादस्य सूर्म्यायां बाष्कलो महिषस्तथा ।
विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद् बलिः ॥*

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

महिषासुर की सुनी बात विधि हू घबराये ।
लैकें देवनि संग तुरत श्रीहरि ढिँग आये ॥
सम्मति करिकें तेज निकार्यो सबने निज-निज ।
दुर्गादेवी भईं शक्ति दस-दस धारें भुज ॥
गर्जीं तर्जीं चण्डिका, आयुध लै रिपु ढ़िँग गईं ।
महिषासुर कूँ मारिकें, जगत माँहि पूजित भईं ॥

यह सम्पूर्ण संसार महामाया की शक्ति द्वारा ही संचालित हो रहा है। शक्ति के बिना सर्वसमर्थ शिव भी शव के समान हो जाते हैं । संसार में सर्वत्र सर्व रूपों में सर्वतोभावेन शक्ति ही व्याप्त है। संसार में जितने स्त्री वाची पदार्थ हैं, वे सब शक्ति के ही स्वरूप हैं। उनके बिना पुलिङ्गवाची शब्दों

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! हिरण्यकशिपु के पुत्र अनुह्लाद की पत्नी का नाम सूर्म्या था । उसके गर्भ से बाष्कल और महिषासुर का जन्म हुआ । प्रह्लादजी का पुत्र विरोचन हुआ और विरोचन का पुत्र बलि हुआ ।"

का कोई महत्त्व नहीं। भगवती महामाया के अनन्त नाम हैं, उनके ब्रह्मादिक देवता भी पार नहीं पा सकते। शिवा, भद्रा, जगदम्बा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धाती, ज्येत्स्नामयी, चन्द्र-रूपिणी, सुखस्वरूपा, शरणागतवत्सला, सिद्धि स्वरूपा, नैऋती, भूभृता, लक्ष्मी, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपरा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, सौम्या, रौद्ररूपा, जगदाधारभूता, कृति विष्णु माया आदि अनेक नामों से विश्व ब्रह्माण्ड में विख्यात हैं। उसके अनेक रूप हैं। उनके विना विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि की, तीनों देवों की, चतुर्दशभुवनों की तथा चराचर जगत् की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे जगदीश्वर की जननी कहीं देवकी रूप में दिखायी देती हैं, कहीं उन्हीं की सहोदरी माया बनकर भगिनी रूप में पूजी और मानी जाती है। कहीं श्रीकृष्ण को आह्लाद देने वाली श्रीजी के रूप में चराचर विश्व को सुख देती हैं। वे धर्मपत्नी के रूप में धर्म के पुत्रों को उत्पन्न करने वाली हैं, कहीं वे प्राणियों में सुख संचार करने वाली शान्ति बन कर अवस्थित हैं। वे ही देवी तुष्टि, पुष्टि, स्मृति, शान्ति, कान्ति भ्रान्ति, शक्ति, वृत्ति, बुद्धि, जाति, व्याप्ति, लक्ष्मी, ईश्वरी, क्षुधा, तृष्णा, छाया, माया, निद्रा, चेतना, क्षमा, श्रद्धा, विशुद्धा, दया, आदि अनेक रूपों में चराचर जगत् में व्याप्त हैं। उनके सात्विकी, राजसी तथा तामसी अनेक भेद होने पर भी वास्तव में वे मूल में एक ही हैं। रजोगुणी शक्ति सत्वगुणी शक्ति से दब जाती है और तमोगुणी रजोगुणी से। जब भिन्न-भिन्न शक्तियाँ काम नहीं देतीं, तब वही देवी संघ सक्ति के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्य को सरलता से कर लेती हैं दुर्जय से दुर्जय शत्रु को सुगमता से जीत लेती हैं। जब यह क्रोध रूपी भैंसा हमारी समस्त दैवी वृत्तियों को दबाकर शरीर रूप स्वर्ग पर अपना आधिपत्य जमा लेता है, तब हम अपने समस्त सद्गुणों विवेक

शक्ति को उत्पन्न करते हैं। वही शक्ति समस्त शत्रुओं का शस्त्रों से संहार कर देती है। देवताओं की विजय हो जाती है। आत्मा का विनाश करने वाले जो काम, क्रोध तथा लोभ आदि प्रबल शत्रु हैं उनका चण्डीदेवी विनाश कर देती हैं। तमोगुण से व्याप्त ऐश्वर्य के मद में मत्त हुए क्रूर असुरों के लिये वे कोमलाङ्गी होने पर भी रणरङ्गदुर्मदा बन जाती हैं। सुकुमारी होकर भी रणचण्डी हो जाती हैं। वे अबला होने पर भी सबला बन जाती हैं। सिंह को वाहन बनाकर वे शत्रु पर झपटती हैं। उस समय वे फलाहार से उतना प्रेम नहीं करतीं उन्हें आमिष आहार प्रिय होता है। कुम्कुम और अलाक्त से अपने मुख पर कृत्तिम लालिमा नहीं लगातीं। वे मधुपान करके अपने मुख मण्डल को रक्त रञ्जित-सा बना लेती हैं। उस समय उन्हें मोतियों के हार प्रिय नहीं। वे नर मुण्डों की माला से ही अपने वक्षःस्थल को सुशोभित करती हैं। वे अपने खप्पर को शत्रु के उष्ण रक्त से भर लेती हैं और अत्यन्त प्रबल महिषासुर को चरणों के तले दबाकर नाश कर देती हैं। वे सबकी शक्ति से प्रकट होती हैं। सबके सम्मिलित अस्त्र-शस्त्रों को धारण करती हैं। सबको साथ लेकर लड़ती हैं और विजय के सुख को स्वयं न भोगकर उसे देवताओं को अर्पण कर देती है। ऐसी संघ से उत्पन्न हुई महिषासुर मर्दिनी देवी के पादपद्मों में हमारा कोटिशः प्रणाम है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! हिरण्यकशिपु के तीसरे पुत्र अनुह्लाद की स्त्री का नाम सूर्म्या था। उसके गर्भ से वाष्कल और महा पराक्रमी महिषासुर उत्पन्न हुआ। राजन्! महिषासुर इतना बली था, कि युद्ध में कोई उसका सामना नहीं कर सकता था। उसने युद्ध में देवताओं के दाँत खट्टे कर दिये उन्हें स्वर्ग से निकाल दिया और स्वयं इन्द्र बनकर तीनों लोकों

का शासन करने लगा। तब भगवती दुर्गा देवी ने प्रकट होकर उसका संहार किया।"

यह सुनकर शौनक मुनि ने पूछा—"सूतजी! भगवती देवी कैसे प्रकट हुई? उनमें स्त्री होकर इतना प्रबल पराक्रम कैसे आया। वे किसकी पुत्री थीं उनका विवाह किसके साथ हुआ। उन्होंने महिषासुर को क्यों मारा? हमारे इन प्रश्नों का कृपा करके उत्तर दीजिये।"

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनिवर! यह कथा वहुत लम्बी है। महामाया भगवती का चरित्र अनन्त है। यहाँ मैं भगवती की महिमा का वर्णन करूँगा, केवल जिस प्रकार देवी ने महिषासुर का मर्दन किया था, उसी कथा को कहूँगा।"

जब महिषासुर ने अपनी असुरों की बलवती सेना लेकर देवताओं पर चढ़ाई की और इन्द्र को जीतकर स्वर्ग के इन्द्रासन पर स्वयं बैठ गया, तब देवता अत्यन्त ही दुखी हुए। वे घरबार विहीन होकर पृथ्वी पर मनुष्य की भाँति गुप्त रूप से विचरण करने लगे। देवता बड़े दुखी थे अन्त में वे सब मिलकर लोक पितामह ब्रह्माजी के समीप गये। ब्रह्माजी उन सबको लेकर शिवजी के पास गये और फिर शिवजी सबको साथ लेकर विष्णु भगवान् के निकट पहुँचे। देवताओं ने भगवान् से सब अपना आदि से अन्त दुख सुनाया। दैत्यों के ऐसे साहस को सुनकर सर्वेश्वर विष्णु को बड़ा क्रोध आया। भगवान् के क्रोध करते ही उनके श्री मुख से एक तेज निकाला। फिर भगवान् रुद्र के मुख से तेज निकला। अब तो सभी देवता अपना-अपना तेज़ उसमें मिलाने लगे। एक सूत के धागे से पेड़ को बाँधो, तो टूट जायगा। यदि बहुत से धागे मिलाकर बट दो तो फिर हाथी भी बाँध दो नहीं टूट सकता। "सात पाँच की लकड़ी एक जने का बोझ" संघ से महान् शक्ति उत्पन्न

हो जाती है। अब तो वह सब तेज मिलने लगा। वह तपस्या त्याग शम, दम जनित सात्विकी तेज नहीं था। वह तो क्रोध से उत्पन्न हुआ वीरता पूर्ण रौद्र से प्लावित तेज था। ज्यों-ज्यों तेज आकर भगवान् के तेज में मिलता, त्यों-त्यों वह एक मानवीय आकार से परिणित हो जाता था। भगवान् रुद्र का जो रौद्र तेज निकला उसने मुख का रूप धारण कर लिया। यम का तेज बालों के रूप में परिणित हो गया। भगवान् विष्णु के तेज से वीरता पूर्ण बीस भुजायें बन गईं। चन्द्र के तेज से स्तन, इन्द्र के तेज से कटि प्रदेश, वरुण के तेज से जंघा, पृथ्वी के तेज से नितम्ब प्रकट हुए। ब्रह्मा के तेज से दोनों चरण, सूर्य के तेज से उँगलियाँ, कुबेर के तेज से नासिका, प्रजापतियों के तेज से दाँत, अग्नि के तेज से नेत्र, सन्ध्या के तेज से भौंहें, वायु के तेज से कान, तथा अन्यान्य देवों के तेज से अन्यान्य भाग उत्पन्न हुआ। अब तो वह तेज पुञ्ज एक परम वीरवती नारी के रूप में प्रकट हुआ। सब देवों ने उस सर्व शक्तिमयी देवी के पाद पद्मों में श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम किया। उसे देखकर सभी देवता भगवती की जय हो, जय हो कहकर जय घोष करने लगे। उनकी जय-जय की ध्वनि से सभी दिशायें भर गईं।

भगवती देवी ने सभी देवताओं की ओर कृपा भरी दृष्टि से देखकर कहा—"देवताओ! तुम लोगों ने मुझे क्यों स्मरण किया है?"

देवताओं ने कहा—"जगदम्बे! हम सब महिषासुर से बहुत सताये गये हैं, हमारी रक्षा करो। हमें अभयदान दो। हमारी गई हुई श्री को हमें असुरों से दिला दो।"

देवी ने कहा—"देवताओ! मैं तुम सबकी शक्ति से ही प्रकट हुई हूँ अब तुम सब मिलकर मुझे अपने अस्त्रों को और दो। तब मैं महिषासुर के मान को मर्दन करूँगी।"

देवी की यह बात सुनकर सभी सुरों ने सहर्ष उन्हें अपने-अपने अस्त्रों से उसी की शक्ति वाले अस्त्र निकाल कर अर्पण किये। शिवजी ने शूल, विष्णु ने चक्र, वरुण ने शङ्ख अग्नि ने शक्ति, वायु ने धनुष, तथा बाणों से भरे दो तर्कस। इन्द्र ने वज्र और घण्टा, यम ने दण्ड, वरुण ने पाश, ब्रह्माजी ने कमण्डलु, प्रजापति ने स्फटिकाक्ष माला, सूर्य ने रोमों में तेज, काल ने ढाल तलवार, समुद्र ने उज्वल मुक्ताहार और दिव्य वस्त्र, चूड़ामणि, कुण्डल, कंकण, केयूर, नूपुर, अँगूठी तथा अन्य सभी अंगों के दिव्य आभूषण प्रदान किये। विश्वकर्मा ने फरसा, कभी न कुम्हिलाने वाली मालायें, समुद्र ने क्रीड़ाकमल, हिमालय ने सवारी के लिये सिंह तथा बहुत से रत्न, कुबेर ने मधुपूर्ण पात्र शेष ने मणि मुक्ताओं से युक्त नागहार, कहाँ तक गिनावें सभी ने जिसके पास जो भी सुन्दर वस्तु थी, अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिये, अपने गये हुए राज्य को लौटने के लिये, जिस पर आततायी असुरों ने अन्याय पूर्वक अधिकार कर लिया था, देवी को अपनी सभी वस्तुएँ भेंट देकर उनका सम्मान किया, उनके उत्साह को बढ़ाया।

देवताओं के द्वारा उत्साहित होकर महामाया अपने सिंह को नचाती हुई, फरसा और तोमरों को घुमाती हुई, अपनी वीरता से वीरता को भी लजाती हुई, पृथ्वी को अपने तेज बल पौरुष से कँपाती हुई असुरों की ओर चली। दैत्यों ने जब देवी को दूर से ही आते देखा, तो वे हक्के-बक्के रह गए। महिषासुर अपनी सेना को सुसज्जित करके देवी की ओर दौड़ा। असुर ने देखा देवी की सहस्रों भुजाओं में सहस्रों आयुध हैं। वह तेज पुंज के समान निर्भय होकर असुर सेना में घुसकर उनका संहार कर रही है। तब तो असुर पूरी शक्ति लगाकर उनसे लड़ने लगे। चिक्षुर नामक एक परम पराक्रमशाली दैत्य

उस महिषासुर की समस्त सेना का अधिनायक था। वह आगे आकर देवी से युद्ध करने लगा। महामाया ने अट्टाहास करते-

करते बात की बात में उसे यमपुर पहुँचा दिया। अब तो चामर, उदग्र, असिलोमा, वाष्कल आदि उनके सेनापति भगवती से लड़ने आये और वे बात की बात में अपने प्राणों

को परित्याग करके यमपुर सिधार गये। कुछ को तो देवी अपने अस्त्र-शस्त्रों से मारती और कुछ को उनका सिंह ही दहाड़ से, पञ्जों से मार-मारकर यमसदन पठा देता। इस प्रकार देवी के साथ दैत्यों का भीषण युद्ध हुआ। देवी अपराजिता थीं वे बराबर मधुपान करके क्रोध में भर जातीं और असुरों की सेना का संहार करतीं। जब महिषासुर ने देखा मेरी सेना को देवी ने विध्वन्स कर किया है और उसमें भगदड़ मच गई है, तब तो वह स्वयं भैंसे का रूप धारण करके देवी के सम्मुख दहाड़ मारता हुआ और पैंने-पैंने सींगों को हिलाता हुआ दौड़ा। उसने आते ही देवी के गणों को त्रास देना आरम्भ किया। तब देवी ने ललकार कर कहा—"अरे, दुष्ट! तुझे तेरे किये का फल चखाऊँगी। आज तुझे मैं यमसदन पठाऊँगी।"

आज मैं तेरी चटनी बताऊँगी, आज तुझे तेरे दर्प का फल चखाऊँगी तू तनिक मेरे सामने आ जा।" इतना सुनते ही महिषासुर अपने सींगों से बड़े-बड़े पहाड़ों को उठाकर भगवती के वाहन सिंह के ऊपर फेंकने लगा। वह खुरों से पृथ्वी को खोद रहा था। मेघ की तरह सिंहनाद कर रहा था। वह अपनी स्वांस से फुफकार छोड़ रहा था। अपने समस्त पराक्रम को दिखाकर भगवती को परास्त करना चाहता था। इतने में हीं देवी ने एक झपट्टा मार कर उस भैंसे के रूप बनाये हुए असुर को पाश में बाँध लिया और दाँत पीसकर किटिकिटाती हुई तथा अट्टहास करती हुई बोलीं—"अब बता तू क्या करेगा?"

इतने में ही उसने भैंसे का रूप त्याग दिया और वह बड़ा बली सिंह बन गया। देवी ज्यों ही उस सिंहरूप दैत्य का सिर काटना चाहती थी, त्यों ही वह खड्गधारी मनुष्य बन गया, तब देवी ने ढाल तलवार उठाई और दूसरे हाथों से बाणों को छोड़कर उसके सम्पूर्ण शरीर को बींध दिया। तब तो वह पुरुष

का रूप त्यागकर हाथी बन गया और जगदम्बा के सिंह को अपनी सूँड़ में लपेट कर खींचने लगा। देवी ने ज्यों ही तीक्ष्ण खड्ग से उसको सूँड़ काटनी चाही त्यों ही वह फिर भैंसा बन गया। अब तो वह फिर वही पर्वतों को उठाकर भगवती पर फेंकने लगा।

देवी का क्रोध पराकष्ठा पर पहुँच चुका था उन्होंने उछल-कर उस दैत्य को धर दबोचा और पैरों के नीचे दबाकर ज्यों ही उसका सिर काटने लगीं, त्यों ही वह फिर निकलने का प्रयत्न करने लगा। तब तो देवी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने एक तीक्ष्ण खड्ग से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उस महिषासुर के मरते ही असुर सेना में हाहाकार मच गया। देवता आकाश से भगवती पर पुष्पों की वृष्टि करने लगे। गन्धर्व गाने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। आकाश में सभी चिल्ला रहे थे, "भगवती की जय, महामाया की जय, जगदम्बिका भावनी की जय। बोल दे अटल छत्र की जय।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में अनुह्लाद के पुत्र महिषासुर के वध की कथा कही। अब आगे हिरण्यकशिपु के चौथे पुत्र महा भागवत् प्रह्लादजो के वंश को आप सब सावधानी के साथ सुनें।"

छप्पय

दुर्गा देवी दया करहु दुख दुरित नसाओ।
शक्तिहीन संतान परी माँ आय जगाओ॥
भये भवानी भीत आइ भय भूत भगाओ।
खड्ग हाथ महँ देहु युद्ध को पाठ पढ़ाओ॥
कलि कराल कलुषित करहिँ, करि कल्यान कपर्दिनी।
मेंटो ममता मोह कूँ, महिषासुर मद मर्दिनी॥

———

दिति से मरुतों की उत्पत्ति कैसे

[४४०]

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः ।
त असाब्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ।।*
(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० १९ श्लो०)

छप्पय

हिरनकशिपु लघु पुत्र भये दैत्यनि कुल भूषन ।
भक्त मुकुट प्रह्लाद भये तिनि पुत्र विरोचन ।।
तिनि सुत दानी परम भये बलि जग विख्याता ।
जिनने कीये विष्णु द्वार रक्षक पुरत्राता ।।
बलि असना महँ जने सुत, शत सबके सब श्रेष्ठ हैं ।
तिन सब महँ शिव भक्त अति बाणासुर ही ज्येष्ठ हैं ।।

प्रारब्ध का कैसा विचित्र चक्कर है, कोई कहीं उत्पन्न होता है और कहीं उसकी प्रसिद्धि होती है। उच्चकुल में भी नीच प्रकृति के पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं और नीच कुल में भी भगवद् भक्त महापुरुषों का जन्म हो जाता है। हम किसी भावना से कार्य करने चलते हैं। अन्त में उसका फल उसके सर्वथा विपरीत ही होता है। त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाला पुत्र उत्पन्न करना

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! ये ४९ मरुत भी दिति के ही पुत्र हैं। ये सब पुत्र रहित थे इन सबको इन्द्र ने अपने सदृश ही बना लिया अर्थात् ये असुर से देवता हो गये।"

चाहा था, किन्तु भाग्यवश उत्पन्न ऐसा हुआ, जिसे इन्द्र ने ही मार डाला। ऐसी नित्य को घटनाओं को देखते-देखते मनीषियों ने यही निश्चय किया है, कि शक्ति भर पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये। क्योंकि बिना पुरुषार्थ किये प्रारब्ध प्रकट ही नहीं होता पता ही नहीं चलता वह हमारे प्रारब्ध में है या नहीं। फिर पूर्वजन्म के पुरुषार्थ से ही तो प्रारब्ध की रचना होती है। इसलिये कर्म करते समय सोच लेना चाहिये हमारा अधिकार कर्म करने में हैं, फल ईश्वरेच्छा पर निर्भर है।

श्री शुकदेव जी कहते है—"राजन्! मैंने हिरण्यकशिपु के संह्लाद, अनुह्लाद और ह्लाद इन तीन पुत्रों के वंश का वर्णन आप से किया। अब उसके सबसे छोटे पुत्र परम भागवत प्रह्लाद जी के भी वंश का वर्णन सुनो। महाराज आप उत्सुक न हों, मैं भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद जी का चरित्र आगे विस्तार के साथ कहूँगा यहाँ तो प्रसंगानुसार केवल उनके वंश का ही वर्णन करता हूँ।"

प्रह्लाद जी के पुत्र हुए विरोचन। ये परम ब्रह्मण्य हुए इन्होंने ब्राह्मण बने देवताओं के माँगने पर अपने प्राणों तक को दे दिया उन्हीं विरोचन के पुत्र हुए दानियों में श्रेष्ठ महाराज बलि। बलि के सदृश साहसी और दानी इस पृथ्वी पर विरले ही हुए हैं। महाराज बलि की पत्नी अशना (रत्नावली) थी उनके गर्भ से सौ पुत्र हुए। उन सबों में बाणासुर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हुए ये भगवान् भूतनाथ के अनन्य भक्त थे। अपनी अनन्य शिव भक्ति के कारण ही इन्होंने शिव पार्षदों में प्रमुखता प्राप्त की। आगे इनका चरित्र विस्तार के साथ वर्णन किया जायगा। यह तो हिरण्यकशिपु के वंश का वर्णन हुआ। अब हिरण्याक्ष के वंश का भी वर्णन सुनिये।

भगवान् कश्यप के वीर्य से दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दो पुत्र हुए। हिरण्याक्ष का विवाह वृषभानु के

साथ हुआ। उसके गर्भ से ९ पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम शकुनि, शम्बरासुर, धृष्ट, भूतसंतापन, वृक, कालनाभ, महानाभ हरिश्मश्रु और उत्कच थे। ये सबके सब परमवीर बड़े उत्साही सुरों के द्वेषी और महापराक्रमशाली थे। वैसे तो असुर बहुत हैं किन्तु दिति के दोनों पुत्रों के वंश का वर्णन मैंने तुमसे कर दिया, यह सब मैंने इसलिये किया है, मि अब मुझे महाभागवत प्रह्लाद जी का चरित्र कहना है। उसी की आप इसे भूमिका समझें। वैसे इन दैत्यों के वंशों के कीर्तन से तो हमारा कोई प्रयोजन है ही नहीं। जिन दैत्यों का भगवान् से वैर भाव से भी सम्बन्ध हो गया है या जो भगवद्भक्त हैं, उनका चरित्र भगवान् के सम्बन्ध से श्रवणीय और कथनीय बन गया है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! यह मैंने दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दो पुत्रों का वंश कहा। इन दो के अतिरिक्त ४९ पुत्र दिति के और भी हैं जो ४९ मरुत कहलाते हैं ये दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी दैत्य न कहाकर देवता कहलाते हैं। इन ४९ देवताओं का एक पृथक् गण ही है।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"प्रभो! यह तो आप बड़ी विचित्र बात बता रहे हैं। दिति के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी मरुत् दैत्य न कहाकर देवता कैसे बन गये। प्रारब्ध का विचित्र खेल है। इस विषय को सुनने के लिये मुझे बड़ा कुतूहल हो रहा है, यदि आप उचित समझें तो इस प्रसंग को आप मुझे सुनावें। इन ४९ दिति के पुत्रों ने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया था जिससे ये असुर कहाकर देवभाव को प्राप्त हो गये। इस बात से मैं ही आश्चर्यान्वित हुआ होऊँ, सो बात नहीं। इस परिषद् में जितने ऋषि महर्षि बैठे हैं, सभी इस विषय को जानने के लिये समुत्सुक से दिखाई देते हैं। अतः कृपा करके इस परम रहस्य उपख्यान को हमें सुनाइये।"

महाराज परीक्षित् की ऐसी उत्सुकता देखकर व्यास नन्दन भगवान् श्रीशुकदेव अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे राजा की प्रश्न चातुरी से परम प्रमुदित हुए। महाराज के वचन विनय युक्त थे, थोड़े भी बहुत भाव को प्रकट करने वाले तथा सारगर्भित थे। ऐसे मनोरथ जिज्ञासा पूर्ण वचन सुनकर परमहंस चूड़ामणि श्रीशुक ने उनकी प्रशंसा की और कहने लगे—"राजन्! आपने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न किया। इस उपख्यान से भाग्य की विडम्बना और भगवान् की भक्तवत्सलता प्रकट होती है। मैं इस परम पावन उपख्यान को आपके सम्मुख कहता हूँ आप इन समस्त ऋषियों के सहित श्रवण कीजिये।"

महाराज! जब भगवान् ने सूकर रूप रखकर हिरण्याक्ष को और नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु को मार डाला, तब इन दोनों की माता दिति को अत्यन्त ही दुख हुआ। उसने सोचा—"विष्णु तो समदर्शी हैं। उनका न कोई शत्रु है न मित्र। किन्तु हैं भोले भाले। प्रतीत होता है वह अत्यधिक स्तुति प्रिय हैं, जो इनके साथ पीछे लगा रहता है उनकी स्तुति प्रशंसा करता रहता है, उस पर वे प्रसन्न हो जाते हैं और उनका पक्ष लेकर न करने योग्य अनुचित कार्यों को भी कर डालते हैं। मेरे पुत्र आत्माभिमानी थे, वे विष्णु के समीप जाते आते नहीं थे। ये इन्द्रादि देवता सदा विष्णु भगवान् के ही पीछे-पीछे घूमा करते हैं। उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। जो वे कहते हैं वह वे करते हैं, सब प्रकार से उनके अधीन रहते हैं। इन्होंने ही इधर-उधर की उलटी सी बातें भिड़ाकर विष्णु के कान भर दिये। उन्हें मेरे पुत्रों के विरुद्ध उभाड़ दिया। और स्वर्ग के सुख को निष्कंटक भोगने के निमित्त मेरे पुत्रों को मरवा डाला। यह सम्पूर्ण दोष इस शतक्रतु इन्द्र का ही है। अतः मेरा प्रधान शत्रु तो मेरी सौति का लड़का यह इन्द्र ही है। यह बड़ा क्रूर है, इस

का चित्त अत्यन्त ही निष्ठुर है। अपने भाइयों की हत्या कराकर यह स्वर्गीय सुख भोगना चाहता है। भाइयों के रक्त रञ्जित विषयों को भोगकर यह सुखी होना चाहता है। यह बड़ा विषय लोलुप पापात्मा और निर्दयी है। मुझे सभी प्रकार से ऐसा उद्योग करना चाहिये, कि किस प्रकार यह पापी मारा जाय। इन्द्र मर जायगा तो मैं सुख से सोऊँगी। अपने मृत पुत्रों का बदला चुकाकर प्रसन्न होऊँगी।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब किसी को किसी पर क्रोध आ जाता है, तो उसे उसमें सब बुराई ही बुराई दिखाई देने लगती हैं। द्वेष के कारण उसमें एक भी गुण नहीं दीखता। दिति तो पुत्र शोक से अंधी हो रही थी। उसका विवेक नष्ट हो गया था। वह सोचने लगी—"इन्द्र कितना नीच है। तनिक से सुख के लिये यह अपने एक ही पिता के पुत्रों को—भाइयों को—मरवा देता है। अरे, इस नाशवान् शरीर के पीछे हत्या कराना कहाँ तक उचित है। शरीर चाहे राजा का हो या रङ्क का सबकी तीन ही गति हैं। जला दिया तो मिट्टी राख हो गई। कहीं जल में अरण्य में फेंक दिया तो सियार, कुत्ते, काक, कछुए आदि जीवों ने खाकर मल बना दिया और पृथ्वी में गाड़ दिया तो कीड़े पड़ गये। इस तुच्छ शरीर के पालन-पोषण के लिये प्राणियों की हिंसा करना यह पापियों का ही काम है। जो इन संसारी सुखों के लिये हिंसा करते हैं, पाप करते हैं, प्राणियों से द्वेष करते हैं, वैर-भाव स्थापित करते हैं, तो उन्हें चिरकाल तक नरकों की अग्नियों में पचना पड़ेगा। यमसदन में अनेकों भाँति की यातना सहनी पड़ेंगी। मेरे पुत्रों को मरवाने वाला यह इन्द्र ही है, यह जिस प्रकार मारा जाय, वही उद्योग मुझे करना चाहिये॥"

फिर उसने सोचा—"मैं कौन-सा ऐसा कार्य करूँ, कि इन्द्र मारा जाय। विष्णु की आराधना करूँ तो सम्भव है विष्णु इन्द्र

का ही पक्ष लें। इसलिये मुझे अपने सर्व समर्थ पति का ही आश्रय लेना चाहिये। उन्हें मैं अपनी सेवा तथा हावभाव कटाक्षों द्वारा वश में लाऊँगी। उन्हें प्रसन्न करके उनसे ही एक ऐसा पुत्र मागूँगी जो इन्द्र को मारने वाला हो।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! स्त्रियाँ बड़े लगन की होती हैं। जिस बात की इन्हें लगन लग जाती है, उसमें ये तन्मय हो जाती हैं। फिर शरीर की सुधि बुधि भूल जाती हैं। इनके मन की बात तो जानी नहीं जाती, किन्तु इनकी सेवासुश्रूषा से पाषाण हृदय भी पिघल जाता है। किसी प्रकार से भी वश में न होने वाला व्यक्ति भी इनकी सेवा चातुरी से वश में हो जाता है। दिति भी अपने मन में ऐसा निश्चय करके, परम अनुराग और विनय के साथ इन्द्रियों को वश में करके निरन्तर अपने पति भगवान् कश्यप की सेवा में तत्पर रहने लगी। वह पति के भावों को जानती थी पति को कौन सी बात किस समय प्रिय है इसका उसे ज्ञान था। इसलिये वह अपने उत्कृष्ट भावों द्वारा, मन्द-मन्द मुस्कानमयी कटाक्ष भङ्गिमों द्वारा तथा मीठे और मनोहर वचनों द्वारा अपने पति को रिझाने लगी। भला ऐसा कौन कृतज्ञ पुरुष होगा, जो अपनी पत्नी की ऐसी सेवा से उसके ऊपर प्रसन्न न हो जाय। कश्यप जी उसके चक्कर में फँस गये। प्रेम जाल में फँसकर उसके अधीन हो गये। उन्हें क्या पता था, कि इसके भीतर कौन-सा स्वार्थ भरा है। यह किस अभिप्राय से इस प्रकार सेवा कर रही है।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"महाराज! अपनी पत्नी की सेवा से सन्तुष्ट होकर भगवान् कश्यप उसे वरदान देने को प्रस्तुत हुए।"

छप्पय

उनंचास जे मरुत पुत्र ते ऊ दिति के हैं।
किन्तु भये नहिँ दैत्य मरुद्गण सुर सब ते हैं ॥
राजा पूछें—"दैत्य देवता भये विभो कस ?
असुर भाव कूँ त्यागि राग सुरपति कीयो कस ?
श्री शुक बोले—भूपवर ! दिति के द्वै जब मरे सुत।
शत्रु इन्द्र बध के निमित, पति सेवा महँ भई रत ॥

दिति की पति से इन्द्रहन्ता पुत्र की याचना

[४४१]

वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।
अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥*

(श्री भा० ६ स्कन्द १८ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

मन्द-मन्द मुस्काइ मधुर वर बोले बैंना।
कजरारे अनुराग नयन के छोड़े सैंना॥
प्रतिपल पति मुख जोहि भाव कूँ समुझि सयानी।
करे काज अनुकूल सदा ई रहै सिहानी॥
त्रिया चरित समुझयो नहीं, मुनि मोहित से है गये।
सुठि स्वभाव सेवा निरखि, अति प्रसन्न दिति पै भये॥

हृदय में जब द्वेष की अग्नि भड़क उठती है, तब अपने पराये का विवेक नष्ट हो जाता है। जब हृदय में क्रूरता आ जाती है और उस क्रूरता को जो किसी साधु पुरुष के द्वारा पूरी कराना चाहते हैं, तो कुछ काल के लिये स्वार्थी लोग साधु के स्वाभाव के ही अनुरूप बन जाते हैं। वे अपने मन को वश में करके चित्त को चंचल नहीं होने देते। इन्द्रियों पर संयम रखते हैं। सभी सुखों को तिलाञ्जलि दे देते हैं। उस साधु पुरुष के सर्वथा

---

* श्री शुकदेवजी बोले—"राजन्! भगवान् कश्यप के प्रसन्न होने पर उनसे वरदान माँगती हुई दिति कहती हैं—"हे ब्रह्मन्! यदि आप मुझे वरदान देना चाहते हैं, तो ऐसा वर दीजिये कि मेरे एक ऐसा पुत्र हो, जो स्वयं तो अमर हो किन्तु उस इन्द्र को मार सके, जिसने मेरे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दोनों पुत्रों को मरवा कर मुझे पुत्रहीन बना दिया है।"

अधीन हो जाते हैं। मनस्वी पुरुषों के समान सुख दुख में समान भाव से रहकर अपने इष्ट की पूर्ति में सदा सचेष्ट रहते हैं। तभी तो मनीषियों ने स्वार्थी और मनस्वी दोनों को एक-सा बताया है। दोनों में अन्तर इतना ही है, कि मनस्वी लोग उसे हृदय से करते हैं और सदा करते रहते हैं। स्वार्थी कार्यार्थी बनावटी भावसे करते हैं, और तभी तक वे मन को वश में करके उस कार्य को करते हैं, जब तक वह कार्य सिद्ध न हो जाय। कार्य के सिद्ध हो जाने पर वे निवृत्त हो जाते हैं। अपना यथार्थ रूप प्रकट कर देते हैं। जहाँ पोल खुली कि महापुरुष उसकी धूर्तता को समझ जाते हैं। ऐसे लोगों का कल्याण नहीं होता उन्हें पीछे पछताना पड़ता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! दिति ने अपने पति भगवान् कश्यप की ऐसी सेवा की, कि वे उसके वश में हो गये। वे उसका अभिप्राय तो समझ न सके कि यह मेरे त्रैलोक्य वन्दित ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को मारने के लिये सेवा कर रही है। इसकी मीठी वाणी में विष भरा है। इसका मुझे लुभाने के लिये मधुर संगीत उसी प्रकार है जैसे बहेलिनी मृग को फँसाने के लिये वीणा बजाकर मधुर स्वर से गाती है मादक तान छोड़ती है। वे उसके वश में हो गये।"

इस पर राजा परीक्षित् ने पूछा—"प्रभो! भगवान् कश्यप तो विद्वान् थे, विचारवान् थे, वे इसके मायाजाल में कैसे फँस गये?"

यह सुनकर हँसते हुए श्रीशुक बोले—"राजन्! यह स्त्री रूपी महा माया ऐसी बलवती है, कि बड़े-बड़े योगी भी इसके चक्कर में फँस जाते हैं। फिर यह सेवा इतनी मोहक वस्तु है, कि सेवा करके मनुष्य चाहे जिसे वश में कर सकता है। संसार में जितनी मोहक वस्तुएँ हैं उन सब में यह स्त्री रूपी माया सबसे अधिक मोहक है। इसका उठना-बैठना, बोलना-चालना, चलना चितवन, मुस्काना, कोप, रुदन, स्पर्श, वाणी कहाँ तक कहें सभी

चेष्टायें हृदय को प्रिय लगने वाली हैं। यदि फिर वह रूपवती और बुद्धिमती हो, तब तो ब्रह्माजी को भी वश में करने में समर्थ है। साधारण लोगों की तो बात ही क्या ? स्त्री की सेवा से कैसा भी वज्र हृदय पुरुष होगा, वह भी वश में हो जायगा। फिर भगवान् कश्यप जैसे सहृदय मुनि की तो बात ही क्या ? सेवासे संतुष्ट हुए पुरुष से स्त्री जो चाहे सो करा सकती है। न तो ऐसा करा लेना बुद्धिमती स्त्री के लिये कोई आश्चर्य की बात है और न स्त्री में आसक्त हुए पुरुष के लिये कुछ भी कार्य कर देना आश्चर्य है। ब्रह्माण्ड को रचने वाले ब्रह्माजी भी इस चक्कर में आ गये ?"

इस पर राजा ने पूछा—"भगवन् ! इस नारी जाति में इतनी मोहकता कैसे आई ?"

हँसकर श्री शुकदेव जी बोले—"राजन् ! यह सब इन चार मुँह वाले बूढ़े बाबा की बोई विष की बेल है। जैसे मनुष्य सोचता है मुक्ति के लिये, उससे और बन्धन हो जाता है। बात यह थी, सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी को सृष्टि बढ़ाने की बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने बहुत से ऋषि मुनि आदि की मानसी सृष्टि उत्पन्न की। जिसे उत्पन्न करें वही जाकर तप में लग जाय। भगवान् के ध्यान में निमग्न हो जाय। कोई किसी से सम्बन्ध ही न रखे। सबको एकान्त बड़ा प्यारा लगे। इससे ब्रह्माजी अत्यधिक चिन्तित हुए, वे सोचने लगे—ऐसे सृष्टि कैसे बढ़ सकती है। इन ध्यान करने वाले बाबाजियों से सृष्टि बढ़ाने की क्या आशा की जाय ? बहुत सोचने पर भी ब्रह्माजी की समझ में कोई बात आई नहीं। तब भगवान् ने ही उनके मन में प्रेरणा करी कि कोई ऐसी मोहक वस्तु बनाओ कि जिसके कारण मनुष्य बन्धन में फँस जाय। एकान्त प्रियता को छोड़कर उसके संग के लिये लालायित रहे। इस विचार के आते ही ब्रह्माजी के शरीर के दो भाग हो गये। एक तो नाक में नथ पहिने काली चोटी को

हिलाते छम्म-छम्म करके इधर से उधर मद के साथ घूमने लगी। दूसरा उसके ऊपर अनुरक्त होकर उसके चरणों के चिन्हों का अनुकरण करने लगा। वह नथ वाला मोहक भाग ही स्त्री के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसलिये स्त्री को अर्धाङ्गिनी कहा है। स्त्री के बिना पुरुष आधा है और पुरुष के बिना स्त्री आधी है। दोनों मिलकर ही एक होते हैं और एक से ही फिर अनेक हो जाते हैं। चना के आधे भाग को भूमि में बोओ वह कभी भी अंकुरित पुष्पित फलित न होगा। इन दोनों भागों में स्त्री भाग अधिक आकर्षक है। उसे देखते ही ऋषि मुनि माला झोली छोड़कर गृहस्थी बनने को लालायित हो गये। बस, ब्रह्माजी की गाड़ी चल निकली, संसार चक्र घूमने लगा। पुरुष पागल होकर नारी के संकेत पर नाचने लगा। सो, राजन्! इसमें आप आश्चर्य न करें। नारी की लगन से की हुई सेवा अत्यधिक मोहक होती ही है। आप तो भुक्त भोगी हैं क्यों होती है न ?"

लज्जित होकर महाराज परीक्षित् ने कहा—"हाँ, भगवन्! शास्त्रकारों के अनुभव मिथ्या थोड़े हैं। ऐसी ही बात है। अच्छा तो फिर क्या हुआ ?"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! होता और क्या ? जब हिरन जाल में फँस जाता है, तो उसका मनमाना उपयोग किया ही जाता है। एक दिन भगवान् कश्यप उसकी स्नेहमयी सेवा से सन्तुष्ट होकर उससे कहने लगे—"प्रिये! मैं तुम्हारे शील स्वभाव से-तुम्हारी सच्ची लगन से की हुई सेवा से-परम सन्तुष्ट हूँ। हे भामिनी! हे अनिन्दिते! तुम मुझसे कोई वर माँगो। तुम दुर्लभ से दुर्लभ भी वर माँगोगी तो मैं उसे तुम्हें दूँगा।"

प्रेम के मान से मुनि के मन को मोहती हुई वह भामिनी बोली—"रहने दो महाराज! आप वरदान फरदान क्या दोगे। आप मुझे इसी प्रकार प्यार करते रहें, यही मेरे लिये बहुत है।

आप के कहने से मैंने कोई बात माँगी और आप उसे न दे सके तो दोनों की बात जायगी इसलिये ऐसे ही ठीक है।"

अपनी बात पर बल देते हुए मुनि ने कहा—"प्रिये! तुम कैसी बातें कर रही हो। तुम्हें मेरे ऊपर विश्वास नहीं है क्या?"

इस पर दिति ने कहा—"महाराज! विश्वास की तो कोई बात नहीं। मुझे भय है, मैंने कोई दुर्लभ वस्तु माँग ली तो आपको संकोच में पड़ना पड़ेगा।"

अत्यन्त स्नेह के साथ सम्पूर्ण ममता बटोरकर भगवान् कश्यप बोले—"प्रिये! तुम मुझसे वर माँगने में संकोच मत करो। पति के प्रसन्न हो जाने पर सती स्त्री के लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं। फिर चाहे वह इस लोक की हो या परलोक की। मैं तुम्हारे समस्त मनोरथों को पूर्ण करूँगा।"

इस पर भक्ति दिखाती हुई दिति बोली—"प्रभो! आप ही तो हमारे पूजनीय आराधनीय और इष्ट हैं। संसार में आपके अतिरिक्त हमारा और कौन है?"

इस पर भगवान् कश्यप ने कहा—"प्रिये! मैं क्या हूँ। पूजनीय तो वे सर्वान्तर्यामी श्री हरि ही हैं। वे भगवान् वासुदेव ही सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान होकर नाम रूप के भेद से कल्पना किये गये हैं। भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं, वे उन्हें उसी भाव से दर्शन देते हैं। किसी भी देवता की उपासना क्यों न करो, सब रूप में वे ही अखिलेश अच्युत पूजे जाते हैं। सती साध्वी स्त्रियाँ उन्हीं की पति रूप से पूजा करती हैं। इसलिये तुम जो अर्चना वन्दना कर रही हो, मेरे पाँच भौतिक शरीर की नहीं, उन्हीं अन्तर्यामी श्री हरि की पूजा कर रही हो। तुमने निष्कपट भाव से अपने शरीर के सुखों को छोड़कर मेरी पूजा की है इसलिये आज मैं तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करूँगा। तुम मुझसे जो चाहो वर माँग लो।

इस बात में सन्देह ही मत करो, कि मेरी इच्छा पूरी होगी या नहीं। तुम अपनी इच्छा को पूर्ण हुई ही समझो।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति ने सब प्रकार से भगवान् कश्यप को अपने वश में देखा, तब वह अपने हृदय पर पत्थर रखकर विष से भरे मधुर वचन बोली। उसने कहा—"ब्रह्मन्! यदि आप हृदय से मुझसे प्रसन्न हैं, मुझे वर देना ही चाहते हैं, तो मैं एक पुत्र आपसे चाहूँगी।"

महामुनि कश्यप ने कहा—"बस, इतनी ही छोटी-सी बात के लिये तुम इतनी भूमिका बाँध रही थीं। यह कौन-सी बात है एक नहीं···।

बीच में ही बात काटकर दिति बोली—"नहीं ब्रह्मन्! मैं ऐसा वैसा साधारण पुत्र नहीं चाहती। मेरे विश्व विजयी, परम पराक्रमी, त्रैलोक्य विख्यात, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दोनों पुत्रों को इस अधम इन्द्र ने मरवा दिया है। अबके मैं ऐसा पुत्र चाहती हूँ, जो इन्द्र को मारने वाला हो। मेरी सौति के इस समृद्धशाली, ईर्ष्यालु, सम्पति असहिष्णु शतक्रतु को जो यमपुर पहुँचा दे। ऐसा प्रबल पराक्रमी पुत्र मुझे दें।"

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! दिति के ऐसे वचनों को सुनकर भगवान् कश्यप तो सन्न रह गये। वे कुछ भी न कह सके। न तो उनसे हाँ कहते बना और न निषेध ही कर सके।"

छप्पय—बोले दिति तें प्रिये माँगु वर इच्छित मोतें।
तव सेवा लखि तुष्ट भयो भामिनि हौं तोतें॥
हैं प्राननि तें अधिक पियारे निज पति जिनकूँ।
तब जग महँ फिरि कौन वस्तु है दुर्लभ तिनिकूँ॥
माँगे वर हिय वज्र करि, दिति लखि पति अति प्रीति युत।
जो मारे देवेन्द्र कूँ, अमर एक अस देहिँ सुत॥

———

कश्यपजी का दुखित होकर नीतिपूर्वक वर देना

[४४२]

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः ।
संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ।।*

(श्री भा० ६ स्क० १८ अ० ४५ श्लो०)

छप्पय

दिति के वर कूँ सुनत भये व्याकुल कश्यप मुनि ।
हाय कहा हौं करयो भयो परवश सोचें पुनि ।।
नारि चरित अति प्रबल नयन-सर बड़े कँटीले ।
कमल कुसुम के सरिस मधुर मुख बैंन रसीले ।।
छुरधारा के सरिस हिय, जो चाहें जे करि सकें ।
क्रुद्ध भये पति पुत्र के, प्राननि कूँ हू हरि सकें ।।

क्रोध पाप का मूल बताया है । क्रोधित हुआ पुरुष हो या स्त्री दोनों ही अपने आपे में नहीं रहते, उनके सिर पर भूत सवार हो जाता है, वे कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान को खो देते हैं । स्त्रियाँ जितनी ही कोमलाङ्गी होती हैं, कुपित होने पर वे उतनी ही कठोर हो

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् कश्यपजी ने पश्चात्ताप करने के अनन्तर दिति से कहा—हे भद्रे ! इन्द्र का मारने वाला तेरे पुत्र तभी हो सकेगा, जब तू एक संवत्सर विधिपूर्वक इस व्रत का पालन कर सके । नहीं तो वह देवताओं का बन्धु होगा ।"

जाती हैं। अपने स्वभाव में स्थित रहने पर ये जितनी ही दया-मयी, ममतामयी और प्रेममयी होती हैं, यदि ये प्रतिकूल स्वभाव वाली बन जायँ तो उतनी ही निर्दयी,क्रूरस्वभाव वाली और वज्र-हृदया हो जाती हैं। स्त्रियों में प्रायः अस्थिरता और चञ्चलता पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। शील संकोच और सदाचार में स्थित रहने वाली स्त्री ही नारी है, इन्हें जो परित्याग कर देती हैं, वे रणचण्डी बन जाती हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जब दिति ने अपने पति भगवान् कश्यप से इन्द्र को मारने वाला पुत्र वरदान में माँगा, तब तो मुनि धर्मसङ्कट में पड़ गये। अब उनकी आँखें खुलीं। अब वे सब रहस्य को समझ गये। अरे, यह तो स्वार्थ की सेवा थी, कपट का प्रेम था, बनावटी स्नेह था। यह तो कनक घट में विष भरा हुआ निकला। अब मैं क्या करूँ? यदि मैं इसे वर-दान देता हूँ, तब तो अपने सर्वश्रेष्ठ, देवताओं के अधीश्वर त्रैलो-क्य वन्दित-पुत्र के बध का भागी हूँगा। मरकर नरकों की यात-नायें सहनी पड़ेगीं। यदि कहकर–प्रतिज्ञा करके भी–मैं इसे वर नहीं देता तो मैं झूठा पड़ूँगा। झूठ से बढ़कर संसार में दूसरा कोई पाप नहीं।"

मेरी कुबुद्धि तो देखो। मैं इन्द्रियलोलुप होकर इस चपला के चाकचिक्य में ऐसा फँस गया, कि अपने आपे को ही भूल गया। इस मुनिमनमोहिनी महिला रूपी माया ने मेरे मन को भी मथित कर दिया। मुझे भी कठपुतली बनाकर इच्छानुरूप नचा दिया।

ये स्त्रियाँ जब तक बालिका रहें, तभी तक प्यारी रहती हैं, या ये यथार्थ में सती धर्म में स्थित रहें तब। इसके अतिरिक्त जहाँ ये मन मानी करने लगीं, जहाँ ये स्वच्छन्द गामिनी हुईं, तहाँ इनमें विवेक नहीं रहता। मन में जो आ जाता

है उसे ही अनेकों उपायों से कर लेती हैं। देखने में बड़ी भोली-भाली सरला दिखाई देती हैं। भीतर चाहें कितना भी रागद्वेष भरा हो। हृदय में चाहें पैनी छुरी कतरनी चल रही हो, किन्तु ऊपर से काली-काली घुँघराली लटों से आवृत शरदकालीन कमल कुसुम के सदृश अपने मनोहर मुख को मन्द-मन्द मुस्कान से सदा प्रफुल्लित बनाये रखेंगी। वाणी ऐसी बोलेंगीं मानों अमृत रस में पागे हुए ही बोल हों। इन्हें जिससे अपनी अभिलाषा पूर्ण करानी होगी, उसके इतने अनुकूल बन जायँगी कि प्राणों से अधिक प्रियतमा दिखाई देंगी। किन्तु ऐसी स्वार्थ में तत्परा, कुलटा स्त्रियों का कोई भी अपना सगा नहीं। कोई भी सम्बन्धी नहीं। कोई भी प्रिय नहीं, कोई भी बन्धु बान्धव नहीं। ये अपने स्वार्थ के लिये पति, पुत्र, पिता, भाई तथा चाहें जिस सम्बन्धी की हत्या करा सकती हैं। सती तो पति की होती हैं किन्तु कामिनी किसी की भी नहीं होतीं।"

इतना सोचते-सोचते मुनि फिर दूसरी बात बिचारने लगे। उन्होंने सोचा—"अरे! इसमें इसका क्या दोष? मैं इस एक के पीछे समस्त स्त्रियों को क्यों कोस रहा हूँ? अपना ही दाम खोटा न होगा, तो परखने वाला उसे खोटा कैसे कह सकेगा? दूसरा कोई सुख-दुख नहीं दे सकता। मनुष्य अपनी वासना में ही बँध कर पाप का भागी बनता है। यदि मैं अजितेन्द्रिय न होता, अपनी इन्द्रियों पर मैंने संयम किया होता, तो आज यह नौबत ही क्यों आती? मैं तो विषय भोगों में फँस गया। स्त्री-सुख को ही सर्वस्व समझकर उसके अधीन हो गया। इसके मिथ्या प्रेम में तन्मय होकर अपने वास्तविक स्वार्थ को भूल गया। इस बिचारी का क्या दोष? दोष तो मेरा ही है। मैंने ही बार-बार इसे वरदान के लिये प्रेरित किया, उत्साहित किया और विवश किया। मुझे धिक्कार है। मेरे तप, संयम, अग्निहोत्र व्रत आदि

सभी को धिक्कार है जो मैं स्त्रैण हो गया। मेरा मन स्त्री जनित सुख में फँस गया॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् कश्यप स्त्री पुरुष दोनों के ही काम की निन्दा करते हुए दुखी हुए। उन्होंने धैर्य धारण किया और फिर सोचने लगे—"अच्छा, अब जो हुआ सो हुआ। अब मैं क्या करूँ। क्या इसे वर दे दूँ? नहीं, मैं ऐसा वर नहीं दे सकता। कोई ऐसा उपाय सोचूँ जिससे मेरा वचन भी सर्वथा मिथ्या न हो और इन्द्र का भी वध न हो। यद्यपि है तो यह कपट-सा ही, किन्तु ऐसे अवसरों पर यह क्षम्य है। वरदान के साथ ऐसा कोई नियम लगा दूँ, कि न वह पूरा हो, न इन्द्र का मारने वाला पुत्र पैदा हो। न नौ मन काजर आवे न राधा नाचे। "न बाबा आवें न घण्टा बाजे" यह सब सोच साच कर भगवान् कश्यप उससे बोले—"प्रिये! तुम्हारे इन्द्र का मारने वाला पुत्र हो तो सकता है, किन्तु इसके साथ एक प्रण है।

दिति ने पूछा—"वह क्या भगवन्?"

भगवान् कश्यप बोले—"वह यह कि मैं तुम्हें एक व्रत बताऊँगा। यदि एक वर्ष तक तुम उस व्रत को निर्विघ्न धारण कर सको—वह व्रत बिना किसी विघ्नबाधा के पूरा हो सके, तब तो तुम्हारे गर्भ से इन्द्र का मारने वाला पुत्र हो सकता है। यदि व्रत में कुछ त्रुटि हो गई, कोई छिद्र रह गया, तो उसका परिणाम उलटा होगा, वह इन्द्र हन्ता न होकर देवताओं का बन्धु बन जायगा।"

दृढ़ता के स्वर में दिति ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं सब करने में समर्थ हूँ। आप मुझे उस व्रत की शिक्षा दीक्षा दीजिए। आप जैसे बतावेंगे वैसे ही मैं बड़ी सावधानी के साथ उस व्रत को करूँगी। किसी प्रकार का विघ्न न होने दूँगी। पहिले तो मुझे

यह बताइये कि इस व्रत में करना क्या होगा। अर्थात् पहिले तो विधि का वर्णन करें, फिर निषेध कार्यों को भी बतावें अर्थात् कौन-सा कार्य न करे जिसके करने से व्रत भंग हो सकता है ?"

यह सुनकर भगवान् कश्यप बोले—"प्रिये ! तुम पुंसवन नामक व्रत करो। प्रातःकाल अरुणोदय में उठना चाहिये। शौच आदि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर विधिवत् स्नान करना चाहिये स्नान करके शुद्ध शुभ्र धुले हुए वस्त्र धारण करने चाहिये। रोली कुंकुम आदि सर्व सौभाग्य चिन्हों को धारण करना चाहिये। बार-बार भोजन न करना चाहिये। विना कुछ खाये गौ, ब्राह्मण और लक्ष्मी सहित श्रीमन्नारायण का पूजन करना चाहिये। भगवान् के पूजन के अनन्तर सौभाग्यती स्त्रियों का गंध, माला, धूप, दीप, नैवेद्यादि से पूजन करना चाहिये। तदनन्तर इसी प्रकार श्रद्धा सहित पति का भी पूजन करे। पति की आज्ञा का कभी उल्लंघन न करे, सदा उसकी सेवा में तत्पर रहे, उसके अनुकूल आचरण करे और निरन्तर इस बात का ही चिंतन करती रहे, कि इसका तेज मेरी कुक्षि में विराजमान है। ये ही एक मूर्ति से मेरे उदर में अवस्थित हैं। ये पुंसवन व्रत के सदाचार हैं। व्रत का उपदेश तो मैं पीछे करूँगा। ये तो उसमें कर्तव्य कार्य हैं।

इस पर दिति ने कहा—"ब्रह्मन्! आपने व्रत के कर्तव्य कार्यों का निर्देश तो कर दिया, अब मैं यह सुनना चाहती हूँ, कि कौन-सा कार्य इस व्रत में न करना चाहिये। निषिद्ध आचरण को मुझे और बता दीजिये। जिससे व्रत भंग न हो सके। ये तो परम आवश्यक हैं।"

इस पर भगवान् कश्यप बोले—"देखो, इतनी बातों पर सावधानी से दृष्टि रखनी चाहिये इन कार्यों को कभी न करे।

१—कभी किसी प्राणी की हिंसा न करे।

२—क्रोध के वशीभूत होकर किसी को शाप न दे।

३—कभी भी झूठ न बोले। मौन रहे या सत्य भाषण करे।
४—नख और रोमों को व्रत में न काटे।
५—जो अमङ्गल अशुचि वस्तु हैं। उनका स्पर्श न करे। जल को लेकर उसी से स्नान करे।
६—जल के भीतर घुसकर स्नान न करे।
७—भूल कर भी क्रोध न करे।
८—जो दुष्ट स्वभाव के पुरुष हैं उन दुर्जनों से संभाषण न करे।
९—जो वस्त्र धुला हुआ न हो उसे धारण न करे।
१०—दूसरे पुरुषों की पहिनी उच्छिष्ट मालाओं को न पहिने।
११—किसी का भी जूठा अन्न न खावे।
१२—जो अन्न भद्रकाली को निवेदित कर दिया हो, उसे न खाय।
१३—मांसयुक्त भोजन को भूल से भी न खाय।
१४—जिस वने हुए अन्न को शूद्र लाया हो, उसे भी न खाय।
१५—जिस अन्न को रजस्वला स्त्री ने देख लिया हो, उसे भी न खाय।
१६—दोनों हाथों की अंजलि बाँध कर पस से भर कर जल न पिये।
१७—जूठे मुँह कभी घर से बाहर न निकले।
१८—भोजन करके जब तक आचमन न कर ले, तब तक बाहर न जाय।
१९—प्रातः और सायंकालीन दोनों संध्याओं के समय घर से न निकले। उस समय भगवद् ध्यान में ही तल्लीन रहे।
२०—विना चोटी बाँधे खुले बालों से निर्लज्ज स्त्रियों की भाँति बाहर न जाय।
२१—बिना सौभाग्यवती के चिन्हों के धारण किये—बिना शृङ्गार किये—घर से बाहर न हो।

२२—बाहर जाय तो वाणी का बड़ी सावधानी से संयम करे कोई मिथ्या, कड़वी, अप्रिय बात न कहे।

२३—बिना वस्त्र पहिने या एक वस्त्र से बाहर न निकले।

२४—शैया पर सोते समय पैर धोकर ही सोवे।

२५—जूठे मुख या और किसी प्रकार की अपवित्रता हो, तो उसी दशा में शैया पर न सोवे। पवित्र होकर आचमन करके सोवे।

२६—गीले पैरों से भूलकर भी शयन न करे। पैर धोकर उन्हें भली-भाँति पोंछकर तब शैया पर पैर रखे।

२७—उत्तर या पश्चिम की ओर सिर करके कभी भी न सोवे, जब सोवे तब या तो पूर्व की ओर या दक्षिण की ओर सिर करके सोवे।

२८—किसी दूसरे की शैया पर अथवा दूसरे के साथ भी न सोवे।

२९—नग्न होकर भूलकर भी शयन न करे।

३०—प्रातः सन्ध्या के समय और सायंकालीन सन्ध्या के समय कभी न सोवे।

इस प्रकार तीस निषिद्ध बातें हैं। इन्हें बचाकर यदि तुम एक वर्ष तक विधिवत् पुंसवन व्रत करोगी, तो तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा। यदि इनमें से कोई भी विघ्न हो गया, तो उसका फल प्रतिकूल हो सकता है।

यह सुनकर दृढ़ता के स्वर में दिति ने कहा—"ब्रह्मन्! इनमें तो कोई भी कठिन बात नहीं है। इनका तो प्रायः मैं वैसे ही पालन करती हूँ। ये तो सदा पालनीय सदाचार की सुन्दर शिक्षायें हैं। मैं इन पालन करने योग्य नियमों का पालन करूँगी और त्याग करने वाली बातों से सर्वथा बचूँगी। आप मुझे पुंसवन व्रत का उपदेश कीजिये।"

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! दिति के स्वीकार कर लेने पर भगवान् कश्यप ने उसे विधिवत् पुंसवन् व्रत की शिक्षा दीक्षा दी। उसके शास्त्रीय विधि से गर्भाधान संस्कार किया। भगवान् कश्यप का अमोघ तेजयुक्त वीर्य दिति के गर्भ में उसी प्रकार बढ़ने लगा जैसे आकाश में शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है। अपने पति से गर्भ धारण करके दिति बड़ी सावधानी से व्रत के नियमों का पालन करने लगी।"

छप्पय

सोचि कहें—व्रत एक बताऊँ तोइ पुंसवन।
करे ताहि निर्विघ्न होहि इच्छित सुत शोभन॥
होहि तनिकहू छिद्र फेरि सुत सुरप्रिय होवे।
यदि ह्वै कें अपवित्र जूठ मुख तें तू सोवे॥
सदाचार पालन करे, कदाचार कूँ त्यागी कें।
व्रत वैष्णव यदि वर्ष भर, करे समय पर जागि कें॥

—:०:—

इससे आगे की कथा उन्नीसवें-खण्ड में पढ़िये:—

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—१०७ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० २.५० डाकव्यय पृथक।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० १०.००

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० २१.०

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ६.०

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०सं० ३५० मू० ४ ०

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० ३ ०

७–भक्तचरितावली प्रथम खंड मू० ४.०० द्वितीय खंड मू० २.५

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २ ५

९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २ ०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डों में)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६

११–नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ०.५०

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झांकी (नाटक) मू० ०.६२

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण, मू० ०.३१

१६–भारतीय संस्कृति और शुद्धि (शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१८–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२५

१९–सत्यनारायण व्रत कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७५

२०–भागवत चरित संगीत सुधा १.००

२१–कृष्ण चरित— मू० २.५०

२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.५०

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२

२४–सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.००

२५–राघवेन्द्र चरित सटीक १.५०

२६–राघवेन्द्र चरित— मू० ०.४

२७–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२८–श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२९–महावीर-हनुमान्— मू० २.५०

पता—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)